

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

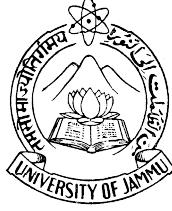
DIRECTORATE OF DISTANCE EDUCATION

जम्मू विश्वविद्यालय

University of Jammu

जम्मू

Jammu



पाठ्य सामग्री

STUDY MATERIAL

एम. ए. हिन्दी

M.A. (HINDI)

SESSION : 2021 Onwards

पाठ्यक्रम संख्या 201
COURSE CODE HIN 201

Dr. Anju Thappa
Co-ordinator

सत्र—द्वितीय
SEMESTER-II

‘भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र’

आलेख संख्या – 1 से 23

LESSON NO. 1-23

इस पाठ्य सामग्री का रचना स्वत्व/प्रकाशनाधिकार दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू –180006 के पास सुरक्षित है।

*All copyright privileges of the Material vest with the
Directorate of Distance Education University of Jammu, Jammu - 180 006*

COURSE CONTRIBUTORS

Writer	Lesson No.
1 Prof. Rampat Yadav Retd. Professor, Dept. of Hindi Kurukeshtra University, Kurukeshtra	1 to 4
2 Dr. Rajni Bala Associate Professor, Dept. of Hindi University of Jammu	5 to 10
3 Prof. O. P Gupta Retd. Professor Dept. of Hindi University of Jammu.	11 to 14, 16, 20,21, 23
4 Dr. Sunita Sharma Sr. Asstt. Professor Dept. of Hindi Guru Nanak Dev University, Amritsar	15
5 Dr. Sunil Kumar Asstt. Professor Dept. of Hindi Guru Nanak Dev University, Amritsar	22
6 Dr. Usha Lal Associate Professor Dept. of Hindi D.V.V. Women College, Karnal	17 to 19

CONTENT EDITING / PROOF READING

Dr. Pooja Sharma

Lecturer in Hindi
DDE, University of Jammu

-
- * All rights reserve. No Part of this work may be reproduced in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from the DDE, University of Jammu.
 - * The Script writer shall be responsible for the lesson / script submitted to the DDE and any plagiarism shall be his/her entire responsibility.
-

Printed by : BMS Printing Press, 500 / July 2021

एम. ए. हिन्दी

M.A. HINDI

CONTENTS

विषय-सूची

LESSON NO.	TITLE	PAGE NO.
आलेख संख्या	शीर्षक	पृष्ठ संख्या
इकाई-I		
1.	भारतीय आचार्यों के अनुसार काव्य की परिभाषा और स्वरूप	3-13
2.	काव्य हेतु एवं काव्य प्रयोजन	14-24
3.	काव्य के रूप दृश्य-श्रव्य तथा इनके भेद	25-36
4.	शब्द शक्ति और उसके भेद, सहृदय की अवधारणा	37-53
इकाई-II		
5.	रस सम्प्रदाय : विभिन्न आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ	54-62
6.	अलंकार सम्प्रदाय : आचार्य एवं उनके सिद्धांत	63-68
7.	रीति सम्प्रदाय : प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ	69-74
इकाई-III		
8.	ध्वनि सम्प्रदाय - प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ	75-83
9.	वक्रोक्ति सम्प्रदाय - प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ	84-90
10.	औचित्य सम्प्रदाय - प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ	91-98
इकाई-IV		
11.	प्लेटो का अनुकरण का सिद्धान्त	99-106
12.	अरस्तू : अनुकरण का सिद्धान्त	107-112
13.	अरस्तू द्वारा प्रतिपादित विरेचन सिद्धांत	113-115
14.	लॉजाइनस : उदात्त सिद्धान्त	116-119
15.	ड्राइडन-त्रासदी की अवधारणा	120-129

इकाई-V

- | | | |
|-----|---|---------|
| 16. | वर्ड्सवर्थ : काव्य-भाषा | 130-138 |
| 17. | मैथ्यू अर्नाल्ड : कविता-जीवन की आलोचना | 139-144 |
| 18. | टी. एस. इलियट : परम्परा और निर्वैयक्तता, वस्तुनिष्ठ सहसम्बन्ध | 145-156 |
| 19. | आई. ए. रिचर्ड्स-सम्प्रेषण का सिद्धान्त | 157-168 |

इकाई-VI

- | | | |
|-----|----------------|---------|
| 20. | अभिव्यंजनावाद | 169-172 |
| 21. | मनोविश्लेषणवाद | 173-177 |
| 22. | यथार्थवाद | 178-183 |
| 23. | अस्तित्ववाद | 184-187 |

भारतीय आचार्यों के अनुसार काव्य की परिभाषा और स्वरूप

- 1.0 भूमिका
- 1.1 काव्य की परिभाषा
 - 1.1.1. संस्कृत आचार्यों के अनुसार
 - 1.1.2. हिन्दी के आचार्यों के अनुसार
- 1.2 काव्य का स्वरूप
 - 1.2.1. अनुभूति तत्व
 - 1.2.2. विचार तत्व
 - 1.2.3. कल्पना तत्व
 - 1.2.4. शैली तत्व
- 1.3 काव्य के रूप
 - 1.3.1. प्रबंध काव्य
 - 1.3.2. खंड काव्य
 - 1.3.3. मुक्तक काव्य
 - 1.3.4. गीति काव्य
- 1.4 सारांश
- 1.5 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 1.6 संदर्भ ग्रंथ

1.0 भूमिका

प्रिय छात्रगण ! काव्य का कर्ता या निर्माता 'कवि' कहलाता है। संस्कृत में कवि को 'कविमनीषी परिभू स्वयंभू' कहा गया है अर्थात् कवि बुद्धिमान, सम्पूर्ण को आवृत्त करने वाला तथा स्वयं उत्पन्न होने वाला होता है। वस्तुतः कवि ब्रह्मा के समान निर्माता, रचयिता, कर्ता व स्रष्टा माना गया है। कवि अपनी मौलिक कल्पनाओं, उद्भावनाओं और प्रेरणाओं से काव्य की सृष्टि करता है। अब प्रश्न उठता है कि काव्य क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? वस्तुतः काव्य

बड़ा सूक्ष्म और व्यापक विषय है। उसे परिभाषा या परिधि में बाँधना अत्यंत कठिन कार्य है। फिर भी संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों ने काव्य के लक्षण दिये हैं जिनके आधार पर काव्य के स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है।

1.1. काव्य की परिभाषा :

काव्य की परिभाषा जानने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि 'काव्य' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ क्या है ? काव्यशास्त्रियों ने 'कवि' शब्द से काव्य की व्युत्पत्ति मानी है। 'कवि' शब्द 'कु' धातु में 'इच' प्रत्यय लगने से बना है। 'कु' धातु का अर्थ है— शब्द करना, बोलना, कलरव करना आदि। आचार्यों के अनुसार 'कवि' वह व्यक्ति है जो शब्द करता है, बोलता है या कलरव करता है जो आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त है। 'काव्य' शब्द के व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ को जानना आवश्यक है। 'कवेः कर्म काव्यम्' के अनुसार कवि का कर्म (कार्य) ही काव्य है ?

वस्तुतः अनुभूति की सुन्दर, सुसम्बद्ध और भाषिक अभिव्यक्ति को 'काव्य' कहते हैं। भारतीय आचार्यों में संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से परिभाषाएं देकर काव्य के स्वरूप को सुलझाने का प्रयास किया है। सुविधा की दृष्टि से काव्य की परिभाषाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है — (अ) संस्कृत के आचार्यों के अनुसार (आ) हिन्दी के आचार्यों के अनुसार।

1.1.1. संस्कृत के आचार्यों के अनुसार :

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है जिसमें काव्य के 36 लक्षण दिये गये हैं। आचार्य भरत ने काव्य के विशिष्ट लक्षणों की ओर संकेत करते हुए काव्य को परिभाषित करने का प्रयास किया है —

मृदुललित पदाढ्यं गूढ शब्दार्थहीनं ।

जनपदसुखबोधं युक्तिमन्तृत्ययोज्यम् ।

बहुकृतरसमार्गं संधिसंधानयुक्तम् ।

स भवति शुभ काव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ॥

(नाट्यशास्त्र)

अर्थात् 'नाटक का अवलोकन करने वालों के लिए शुभ काव्य वह होता है जिसकी रचना कोमल और ललित पदों में की गई हो, जिसमें शब्द और अर्थ गूढ न हो, जिसे जनसाधारण सरलता से समझ सके, जो तर्क-संगत हो, जिसमें नृत्य की योजना हो, जिसमें भिन्न-भिन्न रसों का समावेश हो और जिसमें कथानक संधियों का पूरा निर्वाह किया गया हो।' निस्संदेह यह परिभाषा व्यापक है। इसमें काव्य के प्रमुख लक्षणों की ओर संकेत किया गया है। इसे काव्य की तर्कसंगत पूर्ण परिभाषा कहना उचित नहीं लगता।

काव्यशास्त्र के दूसरे महत्त्वपूर्ण आचार्य भामह हैं। उनके अनुसार—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ का संयोग ही काव्य है। यहाँ शब्द और अर्थ को काव्य कहने में अतिव्याप्ति दोष झलकता है। आचार्य भामह ने शब्द और अर्थ में ही काव्यत्व माना है। ये अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। उन्होंने काव्य-लक्षणों की स्पष्ट प्रस्तुति नहीं की है। उनकी परिभाषा का दायरा भी संकुचित है जिसमें केवल शब्द और अर्थ की ही चर्चा की

गई है।

आचार्य दण्डी के अनुसार, “शरीरं तावदिष्टार्थं व्यवच्छिन्ना पदावली” अर्थात् इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली शरीर मात्र है। दण्डी ने अर्थ-चेतना को काव्य की मूल चेतना माना है।

रुद्रट के अनुसार ‘ननु शब्दार्थौ काव्यं’ अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य हैं। उन्होंने शब्दार्थ युगल को महत्ता देते हुए शब्द लालित्य के साथ अर्थ लालित्य की भी वकालत की है। उनकी मान्यता है कि शब्द और अर्थ दोनों कवि-कल्पना प्रसूत होते हैं।

ध्वनिकार आनंदवर्द्धन के अनुसार – ‘शब्दार्थं शरीरं तावत्काव्यम्’ अर्थात् काव्य तो शब्दार्थ के शरीर वाला है।

आचार्य कुंतक के अनुसार – “शब्दार्थौ सहितौ वक्र व्यापारशालिना बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्” अर्थात् वक्र व्यापारशाली और किसी सूत्र में व्यवस्थित शब्दार्थ काव्य है। इस परिभाषा में स्पष्टता का अभाव है। यहाँ ‘वक्र’ और ‘बंध’ शब्द स्पष्ट नहीं हैं। फिर भी इस परिभाषा से तीन बातें स्पष्ट होती हैं – काव्य में शब्द और अर्थ का समान महत्त्व है, बंध में व्यवस्थित शब्दार्थ ही काव्य है तथा काव्य उक्ति रूप है।

‘सरस्वती-कण्ठा भरण’ के रचयिता भोजराज ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है – “निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम् रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिञ्च विदन्ति।” अर्थात् दोष रहित, गुण सहित, अलंकार-रसयुक्त काव्य की सृजना करने वाला कवि कीर्ति के साथ सुख को भी भोगता है। भोजराज ने इस परिभाषा में सामान्यतः काव्य की विशेषताओं की ओर से ही संकेत किया है। वाग्भट के अनुसार काव्य की परिभाषा इस प्रकार है –

“साधु शब्दार्थं संदर्भं गुणालंकारं भूषितम्।

स्फुटरीतिरसोयेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तयं।।”

अर्थात् काव्य सुंदर शब्द और अर्थ का ऐसा संदर्भ है जो गुण और अलंकार से भूषित होता है और जिसमें रीति और रस स्फुट रूप में विद्यमान होते हैं। कवि को कीर्ति प्राप्त करने हेतु ऐसी रचना करनी चाहिए। यहाँ वाग्भट ने शब्द और अर्थ को समान महत्त्व दिया है।

‘चन्द्रालोक’ के रचयिता आचार्य जयदेव के अनुसार काव्य की परिभाषा इस प्रकार है – “निर्दोषं गुणालंकारलक्षणरीतिवृत्तिमत् वाक्यं काव्यं” अर्थात् दोषहीन, गुण, अलंकार, रीति और वृत्ति इन सभी उपादानों से पूर्ण वाक्य को काव्य कहते हैं। उनकी यह पंक्ति परिभाषा न होकर काव्य के तत्वों का संग्राहक वाक्य लगता है। इस परिभाषा में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों का अभास मिलता है। इसमें भावानुभूति की अपेक्षा कथन की चारुता पर अधिक बल दिया गया है।

आचार्य मम्मट ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है “तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि” अर्थात् दोषहीन, गुणयुक्त और कभी-कभी अलंकार से रहित शब्दार्थ को काव्य कहा है। वस्तुतः यह परिभाषा काव्य को निश्चित

परिधि में बाँधती हुई भी काव्य का स्पष्ट और निश्चित स्वरूप प्रस्तुत नहीं करती। यह परिभाषा काव्य के गुण-दोषों को ही संकेतित करती है। 'सगुण' शब्द केवल काव्य की विशेषता को प्रस्तुत करता है, व्यापक अर्थ को नहीं। मम्मट के अनुसार गुण काव्य के आवश्यक अंग है। उन्होंने गुणों को काव्य का नित्य अंग माना है और अलंकारों को अनित्य।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार "अदोषौ, सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थो काव्यम्" अर्थात् दोष रहित, गुण सहित, अलंकार युक्त शब्दार्थ ही काव्य है। आचार्य हेमचन्द्र अलंकारों को काव्य का अनिवार्य तत्व मानते हैं। उन्होंने दोषों के त्याग और गुणों की ग्राह्यता पर मम्मट की अपेक्षा कम बल दिया है। इस परिभाषा को पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, "वाक्यं रसात्मकं काव्यं" अर्थात् रसयुक्त वाक्य ही काव्य है। उनके अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से जिसकी निष्पत्ति होती है, वह रस, जिस काव्य में निहित हो, वह काव्य है। आलोचकों का मत है कि इस दृष्टि से रस की अनिवार्य शर्त के कारण काव्य का क्षेत्र संकीर्ण हो जाएगा। फिर रस विहीन काव्य-पंक्तियों का क्या होगा ? इस दृष्टि से अलंकार और उक्ति वैचित्र्य पूर्ण काव्य-पंक्तियों का क्या होगा ? यहां यह उल्लेखनीय है कि केवल रस मात्र को ही काव्य मानने से काव्य के अन्य तत्व गौण नहीं हो जाते। आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा काव्य के एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की प्रस्तोता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

आचार्य पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है -

"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"

अर्थात् रमणीय अर्थ को प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है। यह परिभाषा अपनी व्यापकता के कारण रसवादी आचार्यों की परिभाषाओं से एक कदम आगे है। पं० जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' जोड़कर उस अलौकिक आनंद की ओर संकेत किया है, जो कविता का प्राणतत्त्व है। 'रमणीय' शब्द के कारण भाव, अलंकार, ध्वनि आदि सभी काव्य की परिधि में आ जाते हैं।

आचार्य विद्याधर के अनुसार 'कवयतीति कविः तस्य कर्म काव्यम्' अर्थात् जो वर्णन करता है, कविता करता है, उसके कर्म को 'काव्य' कहते हैं। आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार 'कवनीयं काव्यं' अर्थात् जो वर्णनीय है वही काव्य है। 'मेदिनी कोष' के अनुसार 'कवेरिदम् काव्यं भावो वा इति काव्यम्' अर्थात् काव्य कवि का भाव या रचना है।

1.1.2. हिन्दी के आचार्यों के अनुसार

हिन्दी के अधिकांश आचार्यों ने काव्य के स्वरूप पर गंभीरता से विचार किया है किन्तु अधिकांश विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं में मौलिकता कम दिखाई देती है। हिन्दी के विद्वानों पर संस्कृत के आचार्यों का अधिक प्रभाव दिखाई देता है। हिन्दी आचार्यों की काव्य सम्बन्धी परिभाषाएं इस प्रकार हैं।

आचार्य चिन्तामणि ने अपने काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ 'कविकुल कल्पतरु' में काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है -

सगुण अलंकारन सहित, दोष रहित जो होई।

शब्द अर्थ वारौ कवित, विबुध कहत सब कोई।।

अर्थात् गुण युक्त, अलंकार सहित, दोष-रहित तथा शब्द-अर्थ सहित सृष्टि को कवित्त (काव्य) कहते हैं। इस परिभाषा पर संस्कृत के आचार्य मम्मट तथा आचार्य हेमचन्द्र का अधिक प्रभाव दिखाई देता है।

आचार्य कुलपति मिश्र ने काव्य को परिभाषित करते हुए कहा है –

दोष रहित अरु गुण सहित कछुक अल्प अलंकार।

सबद अरथ सो कवित है ताकौ करौ विचार।।

अर्थात् दोष रहित, गुण सहित, अल्प अलंकारों से युक्त, शब्द अर्थ सहित रचना को कवित्त (काव्य) कहते हैं। इस परिभाषा पर आचार्य मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' का प्रभाव दिखाई देता है।

आचार्य सूरति मिश्र ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है –

वरनन मनरंजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।

निपुन कर्म कवि कौ जुतिहिं काव्य कहत सब कोइ।।

अर्थात् अलौकिक रीति का मनोरंजन-पूर्ण वर्णन करने वाले कविकर्म को काव्य कहते हैं। इस परिभाषा पर भी संस्कृत के आचार्यों का प्रभाव दिखाई देता है।

महाकवि केशवदास अलंकारवादी आचार्य थे। उनके अनुसार काव्य की परिभाषा इस प्रकार है—

जदपि सुजाति सुलच्छिनी, सुवास सरस सुवृत्त।

भूषण बिनु न विराजही कविता बनिता मित।।

आचार्य कवि देव ने काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है—

सब्द जीव तिहि अरथ पन, रसमत सुजस सरीर।

चलत वहै नुग छंद गत, अलंकार गंभीर।।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "सादगी, असलियत और जोश, यदि ये तीनों गुण कविता में हो तो कहना ही क्या है। बहुधा अच्छी कविताओं में भी इनमें से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए। कविता (काव्य) प्रभावशाली रचना है, जो पाठक या श्रोता के मन पर आनंदमय प्रभाव डालती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है। उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता (काव्य) कहते हैं।"

आचार्य डॉ० नगेन्द्र ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है – “काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है। ये प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से उद्भूत होती है।”

बाबू श्याम सुंदर दास के अनुसार “हम किसी पुस्तक को काव्य की संज्ञा तभी दे सकते हैं, अगर वह कला के उद्देश्यों को पूरा करती है।”

जयशंकर प्रसाद के अनुसार “काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचना है।” पंत के अनुसार “कविता (काव्य) हमारे पूरिपूर्ण क्षणों की वाणी है।”

इस प्रकार संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों ने अपने-अपने विचारानुसार काव्य को परिभाषित करने का प्रयास किया है। सभी परिभाषाओं का निष्कर्ष यह है कि काव्य मानव की अनुभूतियों की सुन्दर, सशक्त भाषिक अभिव्यक्ति है। परिभाषा सम्बन्धी विशिष्ट निष्कर्ष इस प्रकार हैं –

1. काव्य शब्द व अर्थ की पद्यबद्ध अभिव्यक्ति है।
2. काव्य के शब्द और अर्थ-दोनों पक्ष सुंदर होते हैं।
3. काव्य का जन्म आवेशमयी अनुभूति से होता है।
4. काव्य में अनुभूतियों को कल्पना द्वारा संवारकर प्रस्तुत किया जाता है।
5. काव्य रमणीय अर्थ का प्रतिपादक होता है जिसमें कल्याणकारी भावनाओं का सन्निवेश होता है।

1.2. काव्य का स्वरूप :

काव्य के स्वरूप से तात्पर्य है – ‘काव्य की बनावट’। काव्य के स्वरूप का निर्धारण काव्य-तत्त्वों और काव्य-रूपों के आधार पर किया जा सकता है। काव्य की रचना में जिन उपादानों की आवश्यकता होती है, वे काव्य के निर्माता तत्त्व कहलाते हैं जिनके अभाव में काव्य-रचना की कल्पना नहीं की जा सकती। काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने काव्य-शरीर को रूप देने वाले चार तत्त्व माने हैं – अनुभूति, विचार, कल्पना व शैली।

1.2.1. अनुभूति तत्त्व :

अनुभूति काव्य-सृजन का प्राणतत्त्व है। काव्य में अनुभूति की ही अभिव्यक्ति होती है और पाठक उस अनुभूति को ही प्राप्त करता है। काव्य की संपूर्ण गतिविधियां अनुभूति को ही लेकर चलती हैं। सामान्यतः अनुभूति दो प्रकार की होती है – स्वानुभूति और परानुभूति। स्वानुभूति में कवि आपबीती बातों को अनुभूत करता है। परानुभूति में जगबीती घटनाएं आती हैं। कवि जगबीती घटनाओं या सुख-दुःखात्मक संवेदनाओं का अहसास इस तरह करता है ताकि वे उसकी निजानुभूति का हिस्सा बन सकें। उदाहरणार्थ तुलसी ने अपने ‘मानस’ में परानुभूतियों को इस तरह

व्यक्त किया है मानो वे स्वयं कवि की अनुभूतियाँ हों। भाव और अनुभूति में अंतर है। सुपतावस्था में जो प्रवृत्ति भाव कहलाती है, जागृतावस्था में वही अनुभूति बन जाती है। कवि या साहित्यकार अपनी अनुभूति के आधार पर ही रचना करता है। इस प्रकार अनुभूति काव्य का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

1.2.2. विचार तत्त्व :

यह भी काव्य का महत्त्वपूर्ण निर्माता तत्त्व है। विचार तत्त्व का आधार बुद्धि होती है। मानव में समझने विचार करने की अद्भुत क्षमता होती है। वह खुली आँखों से संसार की सभी वस्तुओं का पर्यावेक्षण करता है और बुद्धि द्वारा उनका मूल्यांकन करता है। भावनाओं को बाँधकर उन्हें एकत्र प्रस्तुत करना विचार तत्त्व का कार्य-क्षेत्र है। वस्तुतः काव्य में अनुभूति के निर्बाध प्रवाह को, कल्पना की उड़ान को तथा भाषा के अनावश्यक अलंकरण को मर्यादित करने का कार्य विचार तत्त्व का है। इस प्रकार विचार तत्त्व अनुभूति, कल्पना और भाषा को नियंत्रित करके काव्य को रोचक और सर्व संवेद्य बनाता है। कवि जिस जीवन-दर्शन को अपने काव्य में गूँथता है, वह विचार तत्त्व की ही देन है। कवि की अन्तर्दृष्टि, रचना का वर्ण्य-विषय, रचना का संदेश आदि विचार-तत्त्व के ही कार्य क्षेत्र हैं। उदाहरणार्थ तुलसी का समन्वयवाद व प्रसाद का मानवतावाद और समरसतावाद के पीछे विचार तत्त्व ही कार्य कर रहा है।

किसी रचना में आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथा का विकास, पात्रों का चरित्रण, संवाद योजना, परिवेश अंकन, भाषा की प्रकृति, आदि सभी बातें विचार-तत्त्व पर ही निर्भर करती हैं। विचार तत्त्व की ही सहायता से कवियों ने पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानों की आज के संदर्भों में पुनर्व्याख्या की है इस प्रकार काव्य-निर्माण में विचार तत्त्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

1.2.3. कल्पना तत्त्व :

‘कल्पना’ का अर्थ है – रूप निर्माण करने वाली शक्ति या ‘मानस चित्र’ बनाने की क्रिया। काव्य-रचना की संपूर्ण गतिविधियाँ कल्पना पर ही निर्भर करती हैं। कल्पना के तीन मुख्य कार्य हैं – रूप विधान, काव्य-संसार का सृजन तथा भाषा की कलात्मक संरचना। जीवन और जगत के विविध दृश्यों को प्रस्तुत करने में कल्पना की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। निराकार वस्तुओं को आकार देना, किसी दृश्य को चित्रमय बनाना, किसी पात्र को साक्षात् बनाना, घटना की पृष्ठभूमि प्रदान करना, बिम्बात्मकता, प्रतीकात्मक आदि सभी बातें कल्पना के द्वारा ही संभव हैं। वस्तुतः कल्पना, काव्य-रचना की विधायिका शक्ति है। संस्कृत काव्यशास्त्र में इसे ‘प्रतिभा’ कहा गया है। भाषिक संरचना में भी कल्पना की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। बिम्ब योजना, अप्रस्तुत योजना, अलंकार योजना आदि कल्पना के द्वारा ही संभव है।

1.2.4. शैली तत्त्व :

‘शैली’ से तात्पर्य है भाषा के प्रयोग की विधि अर्थात् भाषा शैली। काव्य-रचना का माध्यम भाषा-तत्त्व ही होता है। भाषा के माध्यम से ही कवि अपने कथ्य को प्रस्तुत करता है। शब्द, अर्थ, पद, वाक्यांश वाक्य, कहावतें-मुहावरें

आदि सभी भाषा के अन्तर्गत आते हैं। वस्तुतः भाषिक संरचना ही किसी कवि की संवेदना को गौरव प्रदान करने में सक्षम होती है। अभिव्यक्ति को सफल बनाने में शैली की विशिष्ट भूमिका होती है। किसी कवि की सौंदर्यानुभूति की बिम्बात्मक प्रस्तुति शैली के द्वारा ही होती है। उत्तम शैली वही मानी जाती है जो कवि की वस्तु को सपाट कथन के रूप में प्रस्तुत न करके चित्रात्मक रूप में प्रस्तुत करे। काव्य को सशक्त, सफल और सुंदर बनाने का दायित्व शैली का है।

काव्य के स्वरूप निर्धारण एवं निर्माण में उक्त चारों तत्त्वों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। वस्तुतः चारों तत्त्व काव्य के भाव पक्ष और कला पक्ष को पुष्ट करते हैं तथा काव्य-सौंदर्य में अभिवृद्धि करते हैं।

1.3. काव्य के रूप :

भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य के तीन रूप माने गये हैं – प्रबंध, मुक्तक और गीति। तात्त्विक दृष्टि से इन तीनों में गहरा अंतर है।

1.3.1. प्रबंध काव्य :

प्रबंध काव्य को दो भागों में बांटा गया है – महाकाव्य और खण्डकाव्य। महाकाव्य में कथावस्तु होती है। उसमें जीवन और जगत का व्यापक चित्रण होता है। कथानक में जीवन के विविध अंगों, घटनाओं व पात्रों का विशद, व्यापक और सजीव चित्रण होता है। महाकाव्य में किसी जाति या समाज की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परम्पराओं का सफल अंकन किया जाता है। एक समालोचक के अनुसार, “महाकाव्य अतीत का गायक, वर्तमान का चित्रकार और भविष्य का द्रष्टा होता है।” महाकाव्य की कथा विस्तृत और पूर्ण जीवनगाथा होती है। वह आठ या आठ से अधिक सर्गों में गठित होती है। कथा का प्रारंभ आशीर्वचन या मंगलाचरण से होता है। महाकाव्य का नायक कोई देवता, उच्च कुलोत्पन्न क्षत्रिय अथवा राजा हो सकता है। नायक का धीरोदात्त गुणों से युक्त होना आवश्यक है। इसमें सभी रसों का होना आवश्यक है किन्तु शृंगार, वीर, शांत में से किसी एक रस का प्रमुख होना आवश्यक है। सर्ग में एक ही छंद आवश्यक है किन्तु सर्ग के अंत में छंद बदलना चाहिए। जीवन की सभी घटनाओं, प्रकृति के विभिन्न रूपों तथा विविध भावों का वर्णन महाकाव्य में आवश्यक रूप से होता है। महाकाव्य का मुख्य उद्देश्य किसी महान् आदर्श की स्थापना करना होता है।

1.3.2. खण्ड काव्य :

खण्डकाव्य भी प्रबंधात्मक होता है किन्तु उसके कथानक में संपूर्ण जीवन के स्थान पर किसी खण्ड या किसी घटना विशेष की प्रस्तुति होती है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार देश के एक खण्ड या अंश का अनुसरण करने वाली रचना खण्डकाव्य कहलाती है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार, “महाकाव्य के ही ढंग पर जिस काव्य की रचना होती है, जिसमें पूर्ण जीवन ग्रहण न करके खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है, उसे खण्ड काव्य कहते हैं।” खण्डकाव्य में कथा का विस्तार नहीं होता। इसमें प्रासंगिक कथाओं का भी अभाव

रहता है। महाकाव्य की अपेक्षा इसमें पात्रों की संख्या सीमित होती है। खण्डकाव्य में एक ही छंद का प्रयोग किया जाता है। इसका उद्देश्य काल सापेक्ष उपदेश देना है।

1.3.3. मुक्तक काव्य :

काव्य का एक स्वरूप मुक्तक भी है। मुक्तक वह रचना है जो कथा-सूत्र के बंधन से मुक्त होती है। इसके छंद पूर्वापर क्रम से मुक्त, स्वतः पूर्ण और स्वतंत्र होते हैं। इन छंदों का अर्थ जानने के लिए किसी आगे-पीछे के प्रसंग को जानना आवश्यक नहीं होता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "यदि प्रबंध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।" डॉ० रामअवध द्विवेदी ने मुक्तक की चार विशेषताओं की ओर संकेत किया है-

1. लघु आकार अथवा सीमित विस्तार।
2. स्वतंत्र, अनिबद्ध तथा अनागलित अस्तित्व।
3. रसोन्मेष की क्षमता से युक्त।
4. माधुर्य गुण एवं संगीतमयता।

युग्मक, विशेषक, कुलापक, कुलक, कोण, प्रघट्टक, विकर्णक, संघात आदि मुक्तक के अनेक भेद हैं।

1.3.4. गीति काव्य :

वैसे तो गीतिकाव्य मुक्तक काव्य का ही एक भेद है। महादेवी वर्मा के अनुसार, "सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था, विशेषकर गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है।" वैयक्तिकता, भावात्मकता, रागात्मकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, कलात्मक शैली आदि गीतिकाव्य की महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं। गीतिकाव्य के दो भेद हैं - लोकगीत और साहित्यिक गीत। लोकजीवन को व्यक्त करने वाले गीत लोकगीत कहलाते हैं। इन गीतों में भावमयता और गेयता का प्राधान्य होता है। लोकगीत, जन्म, विवाह, होली आदि अवसरों पर गाये जाते हैं। साहित्यिक गीतों में व्यक्तित्व की प्रधानता होती है। इन गीतों में भावात्मकता, रागात्मकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता आदि विशेष गुण होते हैं।

1.4. सारांश :

इस प्रकार काव्य के स्वरूप का विश्लेषण काव्य-तत्त्वों और काव्य-रूपों के आधार पर किया जा सकता है। काव्य-तत्त्वों के आधार पर काव्य के शरीर स्वरूप का पता चलता है और काव्य रूपों के आधार पर काव्य के वैविध्यपूर्ण रूपों का ज्ञान होता है। समय-समय के अनुसार काव्य-रूपों में परिवर्तन होता रहा है और होता रहेगा। भारतीय काव्यशास्त्रियों के अनुसार अनुभूति ही अभिव्यक्ति है और अभिव्यक्ति ही काव्य है। वस्तुतः हिन्दी काव्य परम्परा संस्कृत परम्परा से विशेष रूप से प्रभावित है।

1.5. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. भारतीय आचार्यों के अनुसार काव्य की विभिन्न परिभाषाओं पर विचार कीजिए।

2. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' के आधार पर काव्य की परिभाषा देते हुए काव्य की अन्य परिभाषाएं दीजिए।

3. काव्य के निर्माता तत्त्वों का विस्तृत परिचय दीजिए।

4. काव्य के स्वरूप का परिचय देते हुए काव्य के विभिन्न रूपों का परिचय दीजिए।

5. महाकाव्य व खंडकाव्य की परिभाषा देते हुए दोनों में भेद बताइए।

6. मुक्तक काव्य की विशेषताएँ बताइए।

1.6. संदर्भ ग्रंथ :

- (1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा
- (2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. सत्यदेव चौधरी
- (3) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र
- (4) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय
- (5) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र
- (6) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. बलदेव उपाध्याय

.....

काव्य हेतु एवं काव्य प्रयोजन

- 2.0 भूमिका
- 2.1. काव्य हेतु
- 2.2. काव्य हेतुओं के प्रकार
 - 2.2.1. शक्ति (प्रतिभा)
 - 2.2.2. व्युत्पत्ति (निपुणता)
 - 2.2.3. अभ्यास
- 2.3. काव्य-प्रयोजन
 - 2.3.1. संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित काव्य प्रयोजन
 - 2.3.1.1. यशसे
 - 2.3.1.2. अर्थकृते
 - 2.3.1.3. व्यवहार ज्ञान
 - 2.3.1.4. शिवेतरक्षतये
 - 2.3.1.5. सद्यः परिनिर्वृतये
 - 2.3.1.6. कान्तासम्मित उपदेश
- 2.4. हिन्दी विद्वानों के अनुसार काव्य-प्रयोजन
- 2.5. पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य-प्रयोजन
- 2.6. सारांश
- 2.7. अभ्यासार्थ प्रश्न
- 2.8. संदर्भ ग्रंथ

2.0 भूमिका :

जिज्ञासु छात्रगण ! भारतीय आचार्यों ने काव्य-सृजन के उन हेतुओं, कारणों अथवा स्रोतों पर भी गहराई से विचार किया है जिसके संयुक्त प्रभाव से शब्द और अर्थ का अविच्छेद सम्बन्ध घटित होता है। भारतीय आचार्यों ने चिंतन, भावना और कल्पना से युक्त अनुभूति की आवश्यकता पर बल दिया है। वस्तुतः मानसिक सृजनात्मक क्षमता ही प्रतिभा है। आचार्य भामह ने काव्य-सृजन के लिए विशिष्ट प्रतिभा की आवश्यकता पर बल दिया है। आचार्य दण्डी स्वाभाविक प्रतिभा, शास्त्रज्ञान, बहुज्ञता और सुदृढ अभ्यास को काव्य का हेतु मानते हैं। वे प्रतिभा के साथ शास्त्रज्ञान और सतत् अभ्यास के बिना प्रतिभाशाली कवि भी काव्य-सृजन में विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

वस्तुतः काव्य-सृजन मानव चेतना का विकसित पुष्प है। कवि भावनाओं से आंदोलित होकर काव्य का सृजन करता है। कवि स्रष्टा और क्रांतदर्शी होता है। काव्य-सृजन की प्रक्रिया में काव्य हेतु और काव्य-प्रयोजनाओं की विशिष्ट भूमिका होती है। दोनों का संक्षिप्त पर्यालोचन इस प्रकार है -

2.1. काव्य-हेतु :

‘काव्य-हेतु’ से तात्पर्य है - काव्य-करण, काव्य-कारण, काव्य-साधन या प्रेरक तत्त्व। किसी वस्तु या घटना से प्रभावित होने की क्षमता सामान्य व्यक्ति और कवि-दोनों में होती है। आचार्य राजशेखर ने दोनों क्षमताओं को ‘प्रतिभा’ नाम दिया है। उन्होंने कवि की प्रतिभा को कारयित्री और पाठक या सहृदय की प्रतिभा को भावयित्री नाम दिया है। काव्य-निर्माण के लिए अनेक प्रेरक तत्त्व कार्य करते हैं, उन्हें काव्य-शास्त्रियों ने -‘काव्य हेतु’ नाम दिया है।

भारतीय काव्य शास्त्रियों में काव्य-हेतु की संख्या के संदर्भ में मतभेद हैं। जिन भारतीय आचार्यों ने काव्य हेतुओं पर विचार किया है, उनमें भामह, दण्डी, रुद्रट, कुंतक, वामन, मम्मट आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आचार्य दण्डी ने अपने ‘काव्यादर्श’ नामक ग्रंथ में काव्य-हेतुओं की संख्या तीन मानी है -

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।

अमंदश्चाऽभियोगोऽस्याः कारणं काव्य संपदः।।

अर्थात् नैसर्गिक प्रतिभा, निर्मल शास्त्र-ज्ञान और अमंद अभियोग (अभ्यास) - ये तीनों काव्य-संपत्ति में कारण होते हैं।

आचार्य भामह ने काव्य-हेतुओं पर विचार करते हुए प्रतिभा को अधिक महत्त्व देते हुए व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य-प्रक्रिया के लिए उपादेय बताया है। यथा -

गुरुपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।

काव्यं वु जायते जातुकस्यचित्प्रतिभावतः।।

अर्थात् जड़ बुद्धि के लोग भी गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन करने में समर्थ हो सकते हैं किन्तु काव्य तो कभी-कभार किसी-किसी प्रतिभाशाली द्वारा रचा जा सकता है।

रुद्रट और कुंतक ने भी काव्य-हेतुओं की संख्या तीन मानी है – शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। वामन ने तीन मुख्य काव्यहेतु माने हैं – लोक (लोक व्यवहार), विद्या (विभिन्न शास्त्र ज्ञान) और प्रकीर्ण। प्रकीर्ण के अन्तर्गत उन्होंने छः अन्य हेतुओं को सम्मिलित किया है –

1. लक्षत्व (काव्यों का अनुशीलन)
2. अभियोग (अभ्यास)
3. वृद्ध सेवा (गुरु द्वारा शिक्षा प्राप्त)
4. अवेक्षण (उपयुक्त शब्दों का व्यास (विश्लेषण) और अनुपयुक्त शब्दों का अपसारण (निष्कासन)
5. प्रतिमान (प्रतिभा)
6. अवधान (चित्त की एकाग्रता)

2.2. काव्य हेतुओं के प्रकार :

आचार्य मम्मट ने सर्वसम्मत तीन काव्य-हेतुओं की ओर संकेत किया है –

शक्ति निपुणता लोक शास्त्रकाव्याद्य वेक्षणात्।

काव्यज्ञ शिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।

अर्थात् शक्ति (प्रतिभा) लोक जीवन (शास्त्र) तथा काव्य आदि के निरीक्षण एवं अनुशीलन से होने वाली निपुणता (व्युत्पत्ति) और काव्यज्ञों से शिक्षा प्राप्त करके अभ्यास करना आदि काव्य-रचना के हेतु हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य मम्मट ने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य हेतुओं को प्रकारान्तर से स्थान दिया है। जिसे दण्डी ने 'निर्मल शास्त्र ज्ञान' कहा है, रुद्रट ने जिसे 'व्युत्पत्ति' कहा है, वामन ने जिसे 'लोकविद्या' कहा है, उसे मम्मट ने 'निपुणता' कहा है। जिसे दण्डी और वामन ने अभियोग और वृद्धसेवा कहा है उसे मम्मट ने 'अभ्यास' कहा है। अतः आचार्य मम्मट द्वारा प्रस्तावित काव्य-हेतुओं को स्वीकार करते हुए, उनका विश्लेषण इस प्रकार है –

2.2.1. शक्ति (प्रतिभा)

लक्षण – भामह, रुद्रट से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने प्रतिभा का लक्षण दिया है और उसकी महत्ता प्रतिपादित की है। रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' में शक्ति के बारे में कहा है – "जिसके बल पर कवि विभिन्न काव्य-विषयों को अनुकूल शब्दों में अनायास अभिव्यक्त कर देता है, उसे 'शक्ति' कहते हैं। रुद्रट ने प्रतिभा के दो रूप माने हैं – सहजा और उत्पाद्या। सहजा ईश्वर प्रदत्त और पूर्व-संस्कारों द्वारा संचित जन्मजात शक्ति है। उत्पाद्या अध्ययन, अभ्यास और सत्संग से प्राप्त होती है।

आचार्य भट्टलौलट ने 'प्रतिभा' की परिभाषा देते हुए कहा है – "प्रज्ञा नवनवोन्नेषशालिनी प्रतिभा मता।" (साहित्यदर्पण, काणे नोट्स -5) अर्थात् नये-नये अर्थों का स्वतः उद्घाटन करने वाली प्रज्ञा प्रतिभा कहलाती है।

आचार्य कुन्तक ने भी 'प्रतिभा' की परिभाषा देते हुए कहा है –

“प्राक्तनाद्यतन संस्कार परिपाक प्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।” (वक्रोक्तिजीवित 1.29 (वृत्ति) अर्थात् पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कार से प्रौढता को प्राप्त विशिष्ट कवित्व शक्ति 'प्रतिभा' कहलाती है।

आचार्य मम्मट के अनुसार 'प्रतिभा' की परिभाषा इस प्रकार है –

“शक्तिः कवित्वबीजः संस्काररूपः” (काव्य प्रकाश, 1 : 3 वृत्ति)

अर्थात् कवित्व निर्माण के बीजरूप विशिष्ट संस्कार को 'शक्ति' कहते हैं।

आचार्य जगन्नाथ के अनुसार, 'प्रतिभा' का स्वरूप इस प्रकार है –

“सा (प्रतिभा) काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः।” (रस गंगाधर, 1 म आनन, पृ० 9)

अर्थात् काव्य रचना के अनुकूल शब्द और अर्थ को प्रस्तुत करने की क्षमता को 'प्रतिभा' कहते हैं।

आचार्य भामह ने प्रतिभा का महत्त्व स्पष्ट करते हुए कहा है कि शास्त्र-पठन तो गुरु उपदेश के द्वारा संभव है लेकिन काव्य-निर्माण के लिए प्रतिभा अपेक्षित है। आचार्य मम्मट ने तो प्रतिभा को कवित्व का बीज ही माना है। दण्डी ने प्रतिभा को आवश्यक हेतु माना है। आचार्य आनन्दवर्द्धन के अनुसार शक्ति (प्रतिभा) के बिना यथार्थ काव्य की रचना हो ही नहीं सकती। आचार्य जयदेव के अनुसार जिस प्रकार लता की उत्पत्ति का हेतु मिट्टी और जल से युक्त बीज है, उसी प्रकार काव्य-रचना का हेतु व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त प्रतिभा है। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रतिभा को काव्य का हेतु माना है और व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का परिष्कारक हेतु माना है –

“प्रतिभाऽस्य हेतुः व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या।”

वस्तुतः काव्य-सृजन में प्रतिभा काव्य की मूल प्रेरक शक्ति है। प्रतिभा द्वारा ही कवि के अंतःकरण में प्रेरणा का स्फुरण होता है जिससे वह सुरम्य भावों की सृष्टि करता है। हिन्दी के विद्वानों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० नगेन्द्र, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' प्रभृति विद्वानों ने प्रतिभा का महत्त्व प्रतिपादित किया है। वस्तुतः प्रतिभा कवि की रचनात्मक क्षमता है जिससे वह अनुभूतिगत और अभिव्यक्तिगत उपादानों का कौशलपूर्ण संयोजन करके नूतन कृति को जन्म देता है।

2.2.2. व्युत्पत्ति (निपुणता) :

'व्युत्पत्ति' से तात्पर्य है – कवि कर्म की निपुणता। इसे बहुज्ञता भी कहते हैं। 'व्युत्पत्ति' प्रतिभा के उपकारक के रूप में प्रयुक्त होती है। 'व्युत्पत्ति' से प्रतिभा परिष्कृत, प्रखर, चमत्कृत, शक्ति-सम्पन्न, मर्मस्पर्शिनी और सारग्रहिणी हो उठती है। यदि व्युत्पत्ति (निपुणता) न हो तो काव्यमर्मज्ञ, काव्यशास्त्रज्ञ, लोक व्यवहारपटु व्यक्ति काव्य-रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकते। व्युत्पत्ति (निपुणता) के कारण ही ग्रामीण व अशिक्षित लोककवि भी लोकगीतों की रचना में प्रवृत्त हो सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र का मत है कि व्युत्पत्ति द्वारा प्रतिभा का संस्कार होता है। निपुणता काव्य और शास्त्र के अध्ययन और अध्यापन द्वारा तथा लोक व्यवहार के ज्ञान के आधार पर बलवती और पुष्ट होती है। 'कवि कण्ठ

भरण' नामक ग्रंथ में कवियों के एक सौ कर्म बताये गये हैं जिनमें 'व्युत्पत्ति' प्रमुख है। भारतीय आचार्यों ने बहुज्ञता विषयक समस्त सामग्री को तीन भागों में विभाजित किया है— (क) लोकज्ञान — इसके अन्तर्गत बाहरी प्राकृतिक परिवेश और मानवीय प्रकृति को ग्रहण किया जाता है। (ख) शास्त्रज्ञान — आचार्य मम्मट ने शास्त्र ज्ञान के अन्तर्गत छंदशास्त्र, व्याकरण शास्त्र, अभिधान शास्त्र के साथ विविध कलाओं, रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों को सम्मिलित किया है। (ग) काव्य ज्ञान — आचार्यों ने इसके अन्तर्गत पूर्ववर्ती काव्यों के ज्ञान पर बल दिया है।

2.2.3. अभ्यास :

काव्य रचना की दिशा में बार-बार निष्ठा और विवेक के साथ प्रयत्न को 'अभ्यास' कहते हैं। बार-बार अभ्यास से निखार आता है और काव्य-सृजन की गुणवत्ता में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती है। आचार्य मंगल ने इसे प्रतिभा और व्युत्पत्ति से महत्तर माना है। मंगल नामक आचार्य ने इसे काव्य का प्रमुख हेतु माना है। प्रौढ़ कवियों और संप्रदाय व्यक्तियों के पास बैठकर ही कवि अपनी काव्यकला को चमका सकता है। अभ्यास से कविता मंज जाती है और उसमें नवीन चमक-दमक और नवीन शक्ति का संचार होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अभ्यास के कई प्रकारों की ओर संकेत किया है और यह प्रतिपादित किया है कि अभ्यास से ही कोई व्यक्ति काव्य कला में निष्णात हो सकता है। वस्तुतः काव्य-रचना के सतत अभ्यास द्वारा कवि विषयानुकूल शब्द, भाव, छंद, अलंकार आदि को अपनी रचना में समाहित करने में समर्थ हो सकता है किसी कवि ने ठीक ही कहा है —

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।

रसरी आवत-जात के, सिल पर परत निसान।।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों काव्य के मुख्य कारण हैं। तीनों ही काव्य के हेतु हैं। इनमें से किसी एक की कमी होने से काव्य-रचना असंभव है। एक समालोचक के अनुसार, "प्रतिभा काव्य का उपादान कारण है, व्युत्पत्ति और अभ्यास निमित्त कारण हैं।"

2.3. काव्य-प्रयोजन

'काव्य-प्रयोजन' का शाब्दिक अर्थ है — काव्य का उद्देश्य। संसार में जो भी कार्य किये जाते हैं वे विशिष्ट उद्देश्य को लेकर किये जाते हैं। संस्कृत की एक उक्ति है — "प्रयोजन बिना मंदोऽपि न प्रवर्तते" अर्थात् प्रयोजन बिना मंद बुद्धि व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। वस्तुतः प्रयोजन के भीतर कोई प्रेरणा, लक्ष्य या लाभ की प्रवृत्ति छिपी रहती है।

2.3.1. संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित काव्य-प्रयोजन

जब हम संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों द्वारा निरूपित काव्य-प्रयोजनों पर विचार करते हैं तो हमारा ध्यान भरत, भामह, वामन, भोजराज, रुद्रट, कुंतक आदि पर केन्द्रित होता है। सर्वप्रथम हमारा ध्यान नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत पर जाता है। जिन्होंने इस ग्रंथ में काव्य-प्रयोजनों पर गंभीर विचार किया है। उनके मतानुसार —

धर्मं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम् ।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

अर्थात् नाट्य (काव्य) धर्म, यश और आयु का साधक, हितकारक, बुद्धि का वर्द्धक और लोकोपदेशक होता है।
आचार्य भामह ने भी काव्य-प्रयोजनों पर विचार करते हुए कहा है –

धर्मार्थं काम मोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्य निबन्धनम् ॥

अर्थात् उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों को तथा समस्त कलाओं में निपुणता को, और प्रीति (आनन्द) तथा कीर्ति को उत्पन्न करती है।

आचार्य वामन और भोजराज ने कीर्ति और प्रीति को ही काव्य का प्रयोजन माना है। आचार्य रुद्रट ने पुरुषार्थ चतुष्टय के अतिरिक्त अनर्थ का उपशम, विपत्ति का निवारण, रोग से विमुक्ति तथा अभिमत वर की प्राप्ति आदि काव्य के प्रयोजन बताये हैं। ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने 'प्रीति' को ही काव्य का प्रयोजन बताते हुए कहा है –

“तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥”

वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने चारों पुरुषार्थों के अतिरिक्त व्यवहार के औचित्य का ज्ञान, हृदय का आह्लाद, अन्तश्चमत्कार आदि काव्य के प्रयोजन बताये हैं।

आचार्य मम्मट का भारतीय काव्यशास्त्र में अन्यतम स्थान है। उन्होंने उपर्युक्त सभी विद्वानों के मतों को ग्रहण करते हुए, समन्वयात्मक दृष्टि प्रस्तुत करते हुए काव्य के निम्नलिखित प्रयोजनों की ओर संकेत किया है –

काव्यं यशसेऽर्थं कृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे ॥ (काव्य प्रकाश 1.2)

अर्थात् काव्य का प्रयोजन है – यश और धन की प्राप्ति, व्यवहार का ज्ञान, शिवेतर (अकल्याण) का नाश, तत्काल परम आनन्द (रसास्वाद) की प्राप्ति और कान्ता सम्मित उपदेश। इस प्रकार आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य के छः प्रयोजनों का विश्लेषण इस प्रकार है –

2.3.1.1. यशसे – काव्य का सृजन यश के लिए होता है। काव्य निर्माण से कवि की कीर्ति और यश का प्रसार होता है – कविकुल गुरु कालिदास, दण्डी, भारवि, वाण, तुलसीदास आदि ने काव्य निर्माण के द्वारा ही अपनी कीर्ति का प्रसार किया था।

2.3.1.2. अर्थकृते – काव्य धन प्राप्ति के लिए होता है क्योंकि भौतिक प्रलोभनों में धन ही विशेष है। कहा भी गया है – सर्वगुणाः कांचनमाश्रयन्ति । रीतिकाल में धन ही काव्य-सृजन का मुख्य आधार था। कहा जाता है कि

रीतिकाल के कवि बिहारी को काव्य-सृजन के लिए राजा जयसिंह द्वारा एक-एक अशर्फी प्रदान की जाती थी।

- 2.3.1.3. व्यवहार ज्ञान** – आचार्य मम्मट ने व्यवहार ज्ञान को भी काव्य का प्रयोजन माना है। संस्कृत के 'हितोपदेश', 'पंचतंत्र' आदि ग्रंथ तथा हिन्दी में गिरिधर और रहीम की रचनाएं इसी दृष्टिकोण से लिखी गई हैं। आचार्य मम्मट के इस मत का समर्थन करते हुए आचार्य कुन्तक ने कहा है – "सत्काव्य में औचित्य से युक्त व्यवहार चेष्टा का निदर्शन प्रधान रहता है।"
- 2.3.1.4. शिवेतरक्षतये** – काव्य का निर्माण शिव से इतर अर्थात् अमंगल निवारण के लिए किया जाता है। काव्य का मुख्य उद्देश्य लोकहित है। आचार्य मम्मट ने मयूर नामक कवि की ओर संकेत किया है। कहा जाता है कि वे कुष्ठरोग से ग्रसित थे। अपने इस रोग को दूर करने के लिए उन्होंने शत श्लोकों में सूर्य की प्रशंसा की जिससे प्रसन्न होकर सूर्यदेव ने उसके शरीर को निरोग कर दिया।
- 2.3.1.5. सद्यः परनिर्वृतये** – 'सद्यः परनिर्वृतये' का अर्थ है – तत्काल आनंद की प्राप्ति अथवा सद्यः मुक्तावस्था। मम्मट के अनुसार आनंद की अनुभूति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। इस काव्यानंद को 'ब्रह्मानंद सरोवर' कहा गया है। वस्तुतः काव्य एक ऐसा पदार्थ है जिसके प्रभाव से जीवन और जगत की कटुताएँ, कर्कशताएँ, पीड़ाएँ, विषमताएँ लुप्त हो जाती हैं और कवि, श्रोता व पाठक को लाभ की प्राप्ति होती है।
- 2.3.1.6. कान्तासम्मित उपदेश** – उपदेश तीन प्रकार के माने गये हैं – प्रभु सम्मित उपदेश, मित्र सम्मित उपदेश और कान्ता सम्मित उपदेश। तीसरा उपदेश बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। काव्य का सृजन प्रियतमा के समान उपदेश प्रदान करने के लिए होता है। काव्य श्रोता को रसमग्न करके जीवनोपयोगी सद्शिक्षा देता है। कहा जाता है कि जयपुर के राजा जयसिंह नवोढ़ा रानी के प्रेमपाश में बंध गये थे। उन्होंने राज-काज संभालना भी बंद कर दिया था। कविवर बिहारी ने उन्हें एक दोहा लिखकर भेजा, जिसका उन पर जादू का सा प्रभाव पड़ा –

नहिं पराग नहिं मधुर मधुप, नहिं विकास इहि काल।

अली कली ही सौं बिंध्यौ, आगे कौन हवाल।।

उपर्युक्त पर्यालोचन के आधार पर यह कहना उचित होगा कि आनंदानुभूति ही काव्य का सर्वप्रमुख प्रयोजन है। वस्तुतः कवि अपने काव्य में रागात्मक सम्बन्धों की सृष्टि करता है। कवि की अनुभूतियाँ काव्य में उदात्त रूप में प्रस्तुत होती हैं। कान्तासम्मित उपदेश भी काव्य का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है क्योंकि काव्य का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र को चारित्रिक दृष्टि से उन्नत करना है। आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित सभी काव्य-प्रयोजन महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन 'व्यवहारविदे', 'शिवेतरक्षतये', 'सद्यः परनिर्वृतये', 'कान्तासम्मित उपदेश' आदि काव्य-प्रयोजन महत्त्वपूर्ण हैं। प्रकारान्तर से अन्य सभी आचार्यों ने इनका समर्थन भी किया है।

2.4. हिन्दी विद्वानों के अनुसार काव्य-प्रयोजन

हिन्दी के कवियों और विद्वानों ने भी काव्य-प्रयोजन पर विचार किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'स्वांत सुखाय' को काव्य का प्रयोजन मानते हुए कहा है -

'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा मतिमंजुलमातनोति।'

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने मनोरंजन व लोककल्याण की भावना से अनुप्राणित काव्य का समर्थन करते हुए कहा है -

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।

उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।

सुप्रसिद्ध समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य में लोकमंगल की भावना का समर्थन करते हुए कहा है कि "कविता का अंतिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण और उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापन है।" डॉ० नगेन्द्र, जयशंकर प्रसाद, नंददुलारे वाजपेयी प्रभृति विद्वानों ने भी आत्माभिव्यक्ति को काव्य का प्रयोजन बताया है।

2.5. पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य प्रयोजन

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य विद्वानों की काव्य-सम्बन्धी अवधारणा का प्रभाव आधुनिक भारतीय रचनाकारों पर भी पड़ा है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए पाश्चात्य विद्वानों के मत प्रस्तुत किए गये हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्य-प्रयोजनों पर अपने-अपने ढंग से विचार किया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्लेटो का नाम बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनके मतानुसार काव्य का प्रयोजन आदर्श सृष्टि की रचना का अनुसंधान करना और काव्य को इतना मनमोहक और प्रभावशाली बना देना जिससे पाठक उसके अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य हो सके। अरस्तु ने काव्य का प्रयोजन ज्ञानार्जन और आनंद माना है। अरस्तु की काव्यजन्य आनंद-साधन भारतीय रस सिद्धान्त के अत्यंत निकट है। जॉन ड्राइडेन के अनुसार - "कविता का एकमात्र नहीं तो कम से कम प्रधान उद्देश्य आनंद देना है क्योंकि कविता आनंद देकर ही शिक्षा दे सकती है। कवि का काम अनुकरण करना, आत्म को प्रभावित करना, भावना को जगाना आदि है।" लेहण्ट के अनुसार "कविता (काव्य) का उद्देश्य आनंद और आत्मकोत्कर्ष है" जी. एस. लीविस के अनुसार, "कविता का उद्देश्य नैतिक शिक्षा देना नहीं अपितु नैतिक उत्कर्ष प्रदान करना है।" टालस्टाय के मतानुसार काव्य का उद्देश्य, "मानव को मानव से मिलाना है। उनको एक ही भावना से संयुक्त करना है।"

यहां यह उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य को कला के अन्तर्गत माना है। काव्य-कला के प्रयोजनों को लेकर पाश्चात्य विद्वानों के चार कर्म बन गये हैं, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

1. **प्रथम वर्ग (यथार्थवादी वर्ग) :** इस वर्ग के विद्वान् काव्य का प्रयोजन जीवन और समाज का यथार्थ चित्रण मानते हैं। इस वर्ग के विद्वानों में प्लेटो, टालस्टाय, रस्किन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

2. **द्वितीय वर्ग (आनंदवादी वर्ग) :** इस वर्ग के विद्वान् आनंद को ही काव्य का उद्देश्य मानते हैं। जर्मन के शिलर इत्यादि इस वर्ग के समर्थक हैं।
3. **तृतीय वर्ग (नीतिवादी वर्ग) :** इस वर्ग के विद्वान् नीति और आनंद को काव्य का मुख्य प्रयोजन मानते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड इत्यादि विद्वान् इस मत के समर्थक हैं।
4. **चतुर्थ वर्ग (कला कला के लिए) :** इस वर्ग के समर्थकों का मत है कि कला का उद्देश्य कला या काव्य की सृष्टि करना है। काव्य का मुख्य प्रयोजन काव्य को कला के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना है। इस वर्ग के विद्वान् प्रचारवादी और उपदेशात्मक काव्य को मध्यम कोटि का काव्य मानते हैं क्योंकि ऐसे काव्यों में कला का पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। इस वर्ग के विद्वानों ने कला के नाम पर प्रचार करने तथा कुरुचिपूर्ण, अश्लील, दूषित अथवा वीभत्स साहित्य-सृजन करने वालों का विरोध किया है। इस वर्ग के समर्थकों में वाल्टर वेटर, ब्रेडले, आस्करवाइल्ड आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। 'कला कला के लिए' समर्थकों ने सौंदर्यजन्य आनंद की सृष्टि को काव्यकला का चरम मूल्य और प्रयोजन स्वीकार किया है। ब्रेडले के अनुसार, कल्पनात्मक अनुभव (सौंदर्यानुभव) ही कला का प्रयोजन है, यही आंतरिक तत्त्व है। धर्म, संस्कृति, शिक्षा, वासना-परिष्कार, संदेश आदि उसके बाह्य प्रयोजन हो सकते हैं। ब्रेडले के अनुसार काव्य, काव्य के लिए है और काव्य अपना साध्य स्वयं है।

2.6. सारांश :

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काव्य हेतु काव्य रचना के कारण हैं और काव्य-प्रयोजन काव्य-रचना के मूल उद्देश्य हैं। वस्तुतः काव्य-हेतु और काव्य-प्रयोजन दोनों मिलकर काव्य-रचना में सहायक होते हैं और कवि को काव्य रचना हेतु प्रेरित भी करते हैं। काव्य-हेतु काव्य के वे तत्त्व हैं जो काव्य-सृजन के मूलाधार हैं। काव्य-प्रयोजन वे बिन्दु हैं जो काव्य-सृजन के लिए कवि को आलोक प्रदान करते हैं। काव्य प्रयोजन का सार यही है कि अर्थ-लाभ, यशप्राप्ति, रोग नाश आदि काव्य के गौण प्रयोजन हैं। काव्य का प्रमुख प्रयोजन तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि से सम्बन्धित शास्त्र-ज्ञान संवेदना संवलित रूप में सरस और संवेद्य बनाकर प्रस्तुत करना है। उचित-अनुचित का बोध करने वाले लोकमंगलकारी शास्त्र ज्ञान की रसात्मक, आनंदमयी अभिव्यक्ति करना ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन है।

2.7. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. 'काव्य-हेतु' से क्या तात्पर्य है ? प्रमुख काव्य-हेतुओं का विस्तृत परिचय दीजिए।

-
-
2. "शक्ति (प्रतिभा), निपुणता और अभ्यास—इन तीनों का समन्वित रूप काव्य हेतु है" इस कथन के आलोक में काव्य—निर्मिति में इन तीनों हेतुओं की भूमिका का आकलन कीजिए।

3. 'काव्य—प्रयोजन' से क्या अभिप्राय है ? विभिन्न विद्वानों के मत प्रस्तुत करते हुए आचार्य मम्मट द्वारा निरूपित काव्य—प्रयोजनों की व्याख्या कीजिए।

4. काव्य हेतुओं का उल्लेख करते हुए प्रतिभा का विस्तार से विवेचन कीजिए।

5. काव्य—हेतु तथा काव्य प्रयोजन का अंतर स्पष्ट कीजिए।

2.8. संदर्भ ग्रंथ

- (1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा
- (2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. सत्यदेव चौधरी
- (3) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र
- (4) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय
- (5) भारतीय काव्य की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र
- (6) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. बलदेव उपाध्याय

‘काव्य के रूप’
दृश्य, श्रव्य तथा इनके भेद

- 3.0 भूमिका
- 3.1 दृश्य काव्य
 - 3.1.1. रूपक : स्वरूप व भेद
 - 3.1.2. नाटक
- 3.2. श्रव्य काव्य
 - 3.2.1. महाकाव्य
 - 3.2.2. खंड काव्य
 - 3.2.3. मुक्तक काव्य
- 3.3. गीतिकाव्य
- 3.4. सारांश
- 3.5. अभ्यासार्थ प्रश्न
- 3.6. संदर्भ ग्रंथ

3.0 भूमिका :

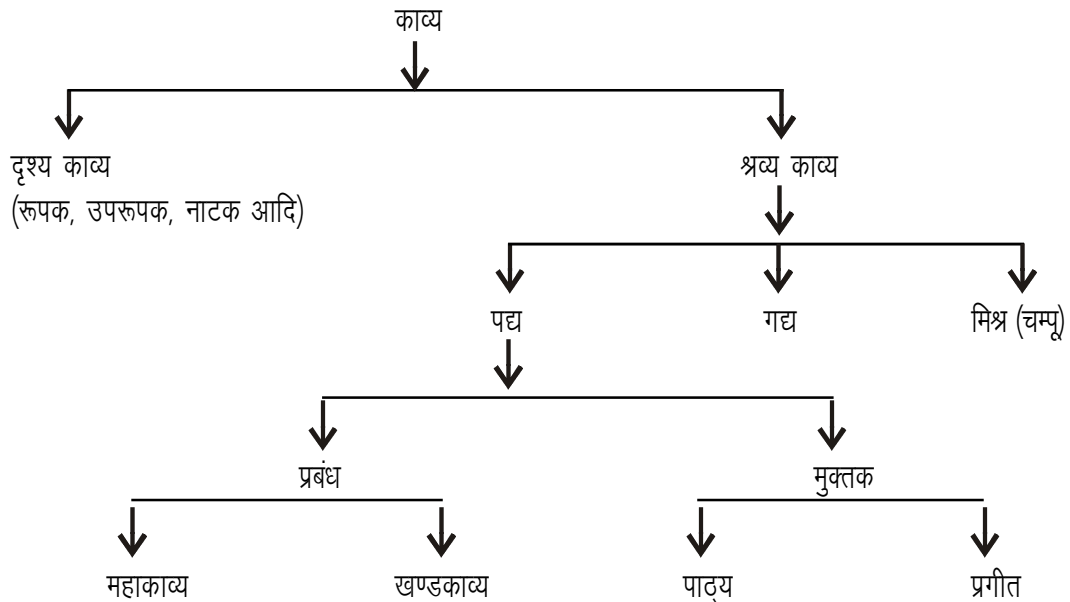
प्रिय विद्यार्थी ! छंदबद्ध रचनाओं को सामान्यतः काव्य कहा जाता है जिसमें भावानंद प्रदान करने की क्षमता होती है । पहले नाटक छंदबद्ध होते थे इसलिए नाटकादि को काव्य के व्यापक अर्थ में ग्रहण कर लिया गया । ‘काव्य’ शब्द का सामान्य अर्थ कवि की कृति है । ‘काव्यतीति कविः तस्य कर्म काव्यम्’ अर्थात् वाक्यों द्वारा कविकर्म को ‘काव्य’ कहा जाता है । भारतीय आचार्यों ने काव्य का कई आधारों पर विभाजन किया है । इन्द्रियगम्यता के आधार पर विद्वानों ने काव्य के दो भेद किये हैं—दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य । दृश्य काव्य उसे कहते हैं जिसका अभिनय किया जा सके । दृश्य काव्य को भारतीय काव्यशास्त्र में ‘रूपक’ भी कहा गया है । रूपक के दस और उपरूपक के 18 (अठारह) भेद माने गये हैं । रूप का आरोप होने के कारण दृश्यकाव्य के इस भेद को ‘रूपक’ कहा गया है । रूपक को पाँचवां भेद कहा गया है क्योंकि इससे जनसाधारण भी आनंद ले सकते हैं । श्रव्य काव्य उसे कहते हैं जिसे सुना जा सके अर्थात् जिसे पढ़कर या सुनकर सहृदय आनंद प्राप्त कर सके । श्रव्य काव्य के गद्य—पद्य प्रयोग की दृष्टि से तीन भेद

किये गये हैं । गद्य, पद्य और मिश्र (चम्पू) । पद्य काव्य के बंध की दृष्टि से दो भेद किये गये हैं— प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य । प्रबंध काव्य में पूर्वापर का तारतम्य रहता है । प्रबंधकाव्य के दो भेद किये जा सकते हैं – एक महाकाव्य और दूसरा खंडकाव्य । मुक्तक में तारतम्य का अभाव रहता है । मुक्तक पूर्वापर क्रम से मुक्त, स्वतःपूर्ण और स्वतंत्र होते हैं ।

संस्कृत काव्यशास्त्र में रमणीयता के आधार पर तीन भेद किये गये हैं— उत्तम, मध्यम और अधम । उत्तम काव्य को ध्वनि काव्य भी कहा जाता है । इसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है । जैसे—‘रामचरित मानस’ का अध्याध्याकांड । मध्यम काव्य को ‘गुणीभूत व्यंग्य’ भी कहते हैं । इसे ‘अलंकार ध्वनि’ काव्य की संज्ञा भी दी जाती है । ‘लक्षणा’ शब्द शक्ति इस काव्य का मूलधार है । इसके वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार रहता है । इसमें संवेदना की अपेक्षा विचार मुख्य होता है । पंत की ‘नौका विहार’ शीर्षक कविता इसी तरह की है । अभिधेय अर्थ से युक्त काव्य को अधम काव्य कहा जाता है । इसमें शब्द-चमत्कार की प्रधानता होती है । इसमें इतिवृत्तात्मकता और परिगणनात्मकता की प्रधानता होती है । कुछेक विद्वानों ने इसे चित्रकाव्य भी कहा है । पद्माकर की प्रकृति सम्बंधी कविता इसी प्रकार की है ।

‘प्रभाव’ के आधार पर काव्य के दो भेद माने गये हैं—भाव प्रधान व विचार प्रधान । भाव प्रधान काव्य में अनुभूति तत्त्व की प्रधानता होती है । जैसे नाटक, महाकाव्य, खंडकाव्य आदि । विचार प्रधान काव्य में विचार तत्त्व की प्रधानता होती है । कबीर, अज्ञेय आदि कवियों की कविता में विचारतत्त्व की प्रधानता है । कुछेक विद्वानों ने काव्य के आकारीय भेद भी किये हैं जैसे—वृहदाकारीय और लघु आकारीय । वृहदाकारीय रचनाओं में नाटक, महाकाव्य को सम्मिलित किया जा सकता है । ऐसी रचनाओं में विचारों, समस्याओं, जीवन के पक्षों—दृष्टिकोणों व प्रसंगों का बाहुल्य होता है । खण्डकाव्य, गीत, गजल आदि लघु आकारीय रचनाएँ मानी जाती हैं । ऐसी रचनाओं में जीवन के एक पक्ष, एक भाव, एकविचार, एक समस्या, एक स्थिति, एक घटना आदि की प्रस्तुति होती है ।

काव्य के प्रमुख भेदों का एक रेखीय खाका भी द्रष्टव्य है—



3.1. दृश्य काव्य :

दृश्य काव्य वह है जिसका अभिनय किया जा सके। दृश्य काव्य को 'रूपक' भी कहते हैं।

3.1.1. रूपक : स्वरूप व भेद

रूपक का स्वरूप : एक वस्तु में किसी अन्य वस्तु के आरोप को रूपक कहते हैं। रूपक में अभिनेता, नट या पात्रों पर किसी व्यक्ति विशेष का आरोप किया जाता है। रूपक या नाटक में मनुष्य के रूप, चेष्टा और अंतः प्रकृति के साथ-साथ उसके मानसिक भावों का भी अनुकरण किया जाता है। अभिनेता के अभिनय-कौशल से रूपक में रामादि मूल पात्रों की प्रतीति होने लगती है। डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार, "रूपक, नाटक या दृश्यकाव्य में नाट्य अभिनय का प्रधान स्थान होता है। अतः दृश्यकाव्य के भीतर कथावस्तु, चरित्र तथा दृश्यों का इस प्रकार संगठन है कि उन्हें रंगमंच पर दिखाया जा सके।" सुप्रसिद्ध समीक्षक डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार, "रूपक में अनुकृति के साथ-साथ रूप के आरोप पर भी बल दिया जाता है। अतएव नाटक के लिए रूपक शब्द का प्रयोग नाट्य की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है।"

रूपक के भेद : 'नाट्यशास्त्र' में रूपक के दस भेद माने गये हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, व्यायोग, समवकार, डिम, वीथी, अंक, ईहा मृग। इन सब में नाटक को अधिक महत्त्व दिया गया है। रूपक के इन सभी उपभेदों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

3.1.2. नाटक :

रूपक के भेदों में नाटक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और चर्चित रूप है। भारतीय आचार्यों ने 'काव्येषु नाटकं रम्यं' कहकर नाटक की महत्ता प्रतिपादित की है। नाटक की लोकप्रियता के अनेक कारण हैं। आचार्य भरत ने नाटक की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है—

न तत ज्ञानं न तत शिल्पं सा विद्या न सा कला।

न सयोगी न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते।।

अर्थात् न ऐसा कोई ज्ञान है, न कला, न कोई शिल्प, न कोई विद्या; ऐसा कोई योग नहीं, कोई कर्म नहीं जिसे नाटक द्वारा प्रेरित न किया जा सके।

साहित्य की अन्य विधाओं में नाटक का क्षेत्र अत्यंत व्यापक और प्रभावशाली है। इस कारण नाटक को 'सामाजिक अनुभव' भी कहा जाता है; आचार्य भरत ने नाटक देखने वाले दर्शक के लिए सामाजिक शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य दर्पण' में नाटक की परिभाषा देते हुए कहा है—

"नाटक वह रचना है, जिसकी कथा इतिहासख्यात हो.... जिसमें पाँच से दस तक अंक हों, जिसका नायक उच्चकुलोत्पन्न, धीर और साहसी हो, जिसके शृंगार अथवा वीर अंगी रस के रूप में हों; और जिसमें नाट्य-संधियों का समावेश किया गया हो।" भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक की परिभाषा इस प्रकार दी है— "काव्य का सर्वगुणसम्पन्न प्रदर्शन ही नाटक है। इसका नायक कोई महाराज, ईश्वरावतार या फिर ईश्वर स्वयं होना चाहिए। शृंगार या वीर में

से एक रस प्रधान हो। आख्यान मनोहर तथा श्रेष्ठ होना चाहिए।" डॉ. सोमनाथ गुप्त के अनुसार, "नाटक, कथावस्तु के द्वारा व्यक्तिगत अथवा सामूहिक जीवन की अभिनयपूर्ण व्याख्या है।"

आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक के पांच तत्त्व माने हैं—कथा, अभिनय या पात्र संवाद, रस तथा रचना—कौशल। आकार की दृष्टि से नाटक की कथावस्तु दो प्रकार की मानी गई है—अधिकारिक कथा और प्रासंगिक कथा। अधिकारिक कथा नाटक के प्रारंभ से अंत तक चलती है। इसके तीन कार्य होते हैं—बीज, बिन्दु और कार्य। अधिकारिक कथा के साथ-साथ चलने वाली कथा को प्रासंगिक कथा कहा जाता है। प्रासंगिक कथा के आचार्यों ने दो भेद माने हैं—पताका और प्रकरी। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व नेता है। नेता को नायक भी कहते हैं। नायक का सम्बंध अधिकारिक (मुख्य) कथा से होता है तथा उसी को अंत में फल की प्राप्ति होती है; धनंजय ने अपने 'दशरूपक' नामक ग्रंथ में नायक के अनेक गुणों की ओर संकेत किया है। नायक विनयशील, मधुर, कार्य करने में दक्ष, त्यागी, लोकप्रिय, कुशल वक्ता, उच्च कुलोत्पन्न, स्थिरमति, बुद्धिमान, साहसी, प्रज्ञासम्पन्न, स्वामिमानी, कलाप्रिय, कलाकार, शूरवीर तेजस्वी तथा शास्त्रों को जानने वाला होना चाहिए। संस्कृत नाट्यशास्त्र में नाटक के चार भेद बताये गये हैं—धीरोदात्त, धीरललित, धीर प्रशांत तथा धीरोद्धत। नाटक में नायक के अतिरिक्त अन्य पुरुष पात्र भी होते हैं जैसे—प्रतिनायक, पीठमर्द व विदूषक; प्रतिनायक को खलनायक भी कहा जाता है। पीठमर्द नायक का प्रमुख सहायक पात्र होता है। विदूषक की योजना हास्यसृष्टि के लिए की जाती है। संवाद तो नाटक के प्राण होते हैं। नाटक की कथा को आगे बढ़ाने, पात्रों के चरित्रांकन आदि के लिए संवादयोजना की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में नाटक का प्रमुख तत्त्व रस है। रस अथवा आनंदानुभूति के लिए नाटक का सृजन व मंचन होता है; रचना कौशल भी रंगमंच का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। अभिनय—कौशल, रंगमंचीयता, कलात्मकता, मूल्यचेतना, शिल्पविधि, सामाजिक चेतना आदि को ध्यान में रखते हुए नाटक के रचनात्मक कौशल को संवारा जाता है।

नाटक की अनेक विशेषताएँ हैं—

- (1) **अभिनेयता**—नाटक, वस्तुतः मानव जीवन का अनुकरण है। (2) नाटक में अंकों की संख्या 5 से 10 तक होती है। दस से अधिक अंकों वाले नाटक को महानाटक कहते हैं। (3) नाटक में व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति भी होती है। (4) नाटक में पांच अर्थ प्रकृतियों, कार्य अवस्थाओं, संघियों का विशेष ध्यान रखा जाता है। (5) चूंकि नाटक श्रव्यविधा है अतः इसमें संवाद योजना को सुष्ठु बनाने के लिए संवाद योजना के चार प्रकार माने हैं—श्रव्य, नियत श्रव्य, अश्रव्य, आकाशभाषित। (6) सूच्यकथा को आगे बढ़ाने के लिए विष्कंभक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार, प्रवेशक आदि का विधान किया जाता है।
- (2) **प्रकरण**—प्रकरण में कथावस्तु उत्पाद्य व कवि कल्पित होती है। इसका नायक धीर और शांत होता है जैसे सचिव, पुरोहित, मंत्री आदि। इसमें पांच से दस अंक होते हैं।
- (3) **भाण**—यह एकांकीनुमा होता है। इसमें एक पात्र होता है। इसमें पात्र दूसरों के वचनों को स्वयं कहता है। वह अनेक प्रकार से विविध चेष्टा युक्त अभिनय करता है। जैसे—भारतेन्दु का 'विषस्य विषमौषध' नाटक।
- (4) **प्रहसन**—यह हास्यप्रधान युक्त एकांकी होता है। इसके तीन भेद हैं—शुद्ध, संकर और विकृत। शुद्ध प्रहसन

- में सन्यासी, तपस्वी और पुरोहित नामक के रूप में आते हैं। विकृत में नपुंसक, कंचुकी, कामुक, धूर्त व्यक्ति नायक के रूप में आते हैं। इसमें परिहासपूर्ण संवाद होते हैं। जैसे भारतेन्दु का 'अंधेर नगरी' नाटक।
- (5) **व्यायोग** – इसमें कथावस्तु और नायक प्रसिद्ध होते हैं। नायक धीरोदात्त, राजर्षि तथा दिव्य पुरुष होता है; पुरुष पात्र अधिक और स्त्री पात्र कम होते हैं। जैसे-भास का 'मध्यमव्यायोग'।
- (6) **समवकार** – इसका कथानक देवताओं और असुरों से सम्बद्ध होता है। इसका नायक दिव्यगुणों से विभूषित होता है। इसमें वीर रस की प्रधानता होती है। इसमें सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है। इसमें तीन अंक होते हैं। इसका उदाहरण समुद्र मंथन शीर्षक नाटक है।
- (7) **डिम** – कोई प्रसिद्ध कथा कथानक का आधार होती है। इसमें चार अंक होते हैं। इसमें प्रधानरस रौद्र रस होता है। शांत, हास्य, शृंगार को छोड़कर अन्य रस गौण रूप में आते हैं। इसमें सूर्यग्रहण, उल्कापात इत्यादि के उदाहरण होते हैं। त्रिपुरदाह इसका प्रमुख उदाहरण है।
- (8) **वीथी** – इसकी कथावस्तु कल्पित होती है। यह एक प्रकार से एकांकी ही होता है। इसका नायक मध्यम कोटि का होता है। इसमें पात्र एक दो ही होते हैं। इसमें शृंगार रस की प्रधानता होती है। 'लीला मधुकर' वीथी का एक सुंदर उदाहरण है।
- (9) **अंक** – इसमें किसी प्रख्यात विषयवस्तु का प्राधान्य होता है। इसमें करुण रस की प्रधानता होती है। 'शर्मिष्ठा ययाति' इसका सुंदर उदाहरण है।
- (10) **ईहामृग** – इसका नायक धीरोद्धत होता है। वह अलभ्य नायिका को प्राप्त करने की इच्छा करता है। प्रतिनायक भी उस नायिका पर अनुरक्त होता है। इसमें चार अंक होते हैं तथा मुख प्रतिमुख तथा निर्वहण संधियों का विधान होता है।

रूपक के उपर्युक्त दस भेदों का परिचय नाट्यशास्त्र, दशरूपक, साहित्य दर्पण आदि के आधार पर दिया गया है। रूपक के उक्त भेदों में 'नाटक' को सर्वोत्कृष्ट एवं महत्वपूर्ण माना गया है।

3.2. श्रव्य काव्य :

श्रव्य काव्य से तात्पर्य है—जिसे पढ़ा व सुना जा सके। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार "श्रव्यश्रोतव्यमात्रं तत्पद्य गद्यमयं द्विधा।" अर्थात् जो केवल सुने जा सके, जिसका अभिनय न हो सके वे गद्य और पद्य दो प्रकार के श्रव्य काव्य होते हैं। हमारा विशिष्ट प्रयोजन प्रबंध और मुक्तक काव्य रूपों और उनके उपरूपों पर प्रकाश डालना है। प्रबंध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य और खण्ड काव्य आते हैं। इनका परिचय इस प्रकार है—

3.2.1. महाकाव्य :

महाकाव्य प्रबंधकाव्य की सर्वश्रेष्ठ विधा है। इसमें किसी जाति या समाज की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परम्पराओं की सफल प्रस्तुति होती है। एक समालोचक के अनुसार, "महाकाव्य अपने युग का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता अपितु वह अतीत का गायक, वर्तमान का चित्रकार और भविष्य का द्रष्टा होता है।" संस्कृत काव्यशास्त्र में

महाकाव्य की विस्तृत मीमांसा की गई है। इन आचार्यों में भामह, दण्डी, रुद्रट, आचार्य विश्वनाथ प्रमुख हैं। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है।

सर्गबन्धो महाकाव्यं त्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः।
एक वंश भवा भूपः कुलजा बहवोऽपि वा।।
शृंगार वीर शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अंगामि सर्वेऽपि रस्मः सर्वे नाटक संघयः।।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारः तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फल भवेत्
X X X X X
कवेवृतस्य वा नाम्ना नायक स्येतरस्य वा।

(साहित्यदर्पण, 6.315-318)

अर्थात् महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। उसमें धीरोदात्त नायक होता है। शृंगार, वीर, शांत रसों में से एक अंगी रस के रूप में होता है। इसमें नाटक की अनेक संधियाँ होती हैं। उसमें लोकप्रसिद्ध कथा होती है। चतुर्वर्ग में से उसका एक फल भी होता है। एक सर्ग में एक छंद होता है किन्तु अंतिम छंद भिन्न प्रकृति का होता है। उसका नाम कवि अथवा चरित नायक के नाम से होना चाहिए।

हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक डॉ. गुलाबराय के अनुसार, 'महाकाव्य वह विषयप्रधान काव्य है जिसमें किसी अपेक्षाकृत बड़े आकार में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उदघाटन किया जाता है।' "रामचरितमानस (तुलसी), 'कामायनी' (प्रसाद), 'साकेत' (मैथिलीशरण गुप्त) आदि हिन्दी के विशिष्ट महाकाव्य हैं।

महाकाव्य के लक्षण

1. **कथावस्तु** – महाकाव्य की कथावस्तु पूर्ण जीवनगाथा होती है। कथा आठ से अधिक सर्गों में संगठित होती है। कथा का प्रारंभ आशीर्वचन और मंगलाचरण से होता है। सर्ग के अंत में आगामी सर्ग की सूचना का संकेत मिल जाता है। महाकाव्य में सब संधियाँ होती हैं ताकि कथा व्यवस्थित रहे।
2. **नायक** – महाकाव्य का नायक देवोपम व्यक्ति, राजा अथवा महापुरुष होता है। नायक में धीरोदात्त गुणों का होना अत्यंत आवश्यक है।
3. **रस** – महाकाव्य में सभी रसों का होना आवश्यक है। शृंगार, वीर, शांत में से किसी एक रस की प्रमुखता अनिवार्य है।

4. **नामकरण** – महाकाव्य का नामकरण नायक या कथावस्तु के आधार पर होता है।
5. **वर्णन** – महाकाव्य में जीवन के सभी दृश्यों, प्रकृति के सभी रूपों तथा विविध भावों का वर्णन महाकाव्य में आवश्यक होता है। सज्जनों की प्रशंसा व दुर्जनों की निंदा का भी इसमें विधान होना चाहिए। सूर्य, चन्द्रमा, दिन, रात, अंधकार, वन, पर्वत, समुद्र आदि का महाकाव्य में वर्णन होना चाहिए।
6. **उद्देश्य** – महाकाव्य का उद्देश्य आनंद और मनोरंजन के साथ व्यापक प्रभाव को रेखांकित करना है। इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए नायक में संघर्ष, साधना, चरित्र-विकास तथा अन्य गुणों का होना आवश्यक है। महाकाव्य में, उद्देश्य के अनुसार, विषय-विस्तार, वर्णन वैविध्य, प्रकृति चित्रण तथा युगबोध की अभिव्यक्ति आवश्यक है।

महाकाव्य के भेद – प्रवृत्तियों के आधार पर महाकाव्य के चार भेद किये जा सकते हैं –

1. कथा प्रधान – जैसे – महाभारत, पृथ्वीराज रासो आदि।
2. चरित्र प्रधान – जैसे – रामायण, रघुवंश, साकेत आदि।
3. भाव प्रधान – जैसे – कामायनी।
4. अलंकृति प्रधान – जैसे – शिशुपाल वध, रामचन्द्रिका आदि।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि विषय की प्रधानता, आकार की गुरुता, लोकप्रिय नायक की प्रतिष्ठा, जातीय भावनाओं, आदर्शों तथा आकांक्षाओं का उद्घाटन आदि से सम्पृक्त रचना महाकाव्य कहलाने योग्य है।

3.2.2. खण्डकाव्य :

खण्डकाव्य प्रबंध काव्य का ही एक विशिष्ट भेद है। आचार्य रुद्रट ने इसे लघुकाव्य कहा है। साहित्य दर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ ने खण्डकाव्य की परिभाषा देते हुए कहा है –

“खण्डकाव्य भवेत् काव्यस्यैक देशानुसारि च।”

अर्थात् काव्य या देश के एक खण्ड या अंश का अनुसरण करने वाली रचना खण्डकाव्य है। वस्तुतः खण्ड काव्य में एक घटना, एक भाव और एक ही कार्य की योजना होती है। महाकाव्य में जीवन की अनेकरूपता होती है जबकि खण्डकाव्य में जीवन का कोई विशिष्ट पक्ष ही वर्णित किया जाता है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने खण्डकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है – “महाकाव्य के ही ढंग पर जिस काव्य की रचना होती है, जिसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है, उसे ‘खण्डकाव्य’ कहते हैं।” डॉ० शंभुनाथ सिंह के अनुसार “सीमित दृष्टिपथ से जीवन का जितना दृश्य दिखाई पड़ता है, उसी का चित्रण खण्डकाव्य में होता है।”

हिन्दी के खण्डकाव्यों में ‘सुदामा चरित’ (नरोत्तम स्वामी) ‘जयद्रथ वध’, ‘पंचवटी’ (मैथिलीशरण गुप्त), ‘तुलसीदास’ (सूर्यकांत त्रिपाठी निराला) ‘कामिनी’ (नरेन्द्र शर्मा), ‘संशय की एक रात’ ‘महाप्रस्थान’ (नरेश मेहता) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

खण्डकाव्य की विशेषताएँ

1. खण्डकाव्य प्रबंधकाव्य का लघुकाव्य रूप है जिसमें तात्त्विक दृष्टि से महाकाव्य के सभी लक्षण आ जाते हैं।
2. खण्डकाव्य में कथाविस्तार नहीं होता और न ही इसमें प्रासंगिक कथाओं का बाहुल्य होता है।
3. खण्डकाव्य में पात्रों की संख्या सीमित होती है। उनके चरित्र की सभी रेखाएँ संक्षेप में प्रस्तुत की जाती हैं।
4. खण्डकाव्य में किसी एक रस पर परिपाक न दिखाकर, किसी उदात्त भाव का उत्कर्ष दिखाकर पाठक को मुग्ध किया जाता है।
5. खण्डकाव्य में भावानुकूल छंद-योजना को विशेष महत्त्व दिया जाता है।
6. खण्डकाव्य का मुख्य उद्देश्य काल सापेक्ष या युगबोध का परिचय देते हुए पाठक में एक विशेष भावानुभूति का संचार करना है।

3.2.3. मुक्तक काव्य :

मुक्तक काव्य प्रबंध का विशेष भेद है। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'मुक्त' में 'कन' प्रत्यय लगाकर की जाती है। यह रचना स्वतंत्र, निर्बंध तथा पूर्वापर सम्बन्ध से रहित होती है। 'अग्निपुराण' के अनुसार –

“मुक्तकं श्लोकः एकैकश्चमत्कार क्षमः सताम्।”

अर्थात् सहृदयों को चमत्कृत करने में समर्थ को 'मुक्तक' कहते हैं। आचार्य दण्डी के अनुसार खण्डकाव्य की परिभाषा इस प्रकार है –

“मुक्तकं वाक्यान्तर निरपेक्षयो सः श्लोकः।”

अर्थात् मुक्तक वह श्लोक है जो वाक्यान्तर निरपेक्ष हो।

आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार –

“पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्”

अर्थात् आगे या पीछे के दूसरों पदों के साथ सम्बन्ध न होने पर भी जिससे रस व्यंजित हो, उसे मुक्तक कहते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक की परिभाषा देते हुए कहा है – “मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिसमें हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।”

मुक्तक की विशेषताएँ

1. मुक्तक एक लघु आकारीय रचना होती है जिसमें खण्ड दृश्य की अवतारणा की जाती है।
2. मुक्तक का अस्तित्व स्वतंत्र व अनिबद्ध होता है।

3. मुक्तक में रसोन्मेष की विशेष क्षमता होती है।
4. मुक्तक में कल्पना की अनूठी समाहार शक्ति होती है।
5. मुक्तक में भाषा की समासिकता होती है।
6. मुक्तक में माधुर्य गुण और संगीतमयता होती है।

मुक्तक के भेद

रचना की श्लोक संख्या, वर्ण्य विषय के अनुसार मुक्तक के अनेक भेद किये गये हैं जैसे –

1. **युग्मक** – दो श्लोकों में किसी एक भाव अथवा अर्थ को व्यक्त करने वाली रचना।
2. **विशेषक** – तीन श्लोकों वाली स्वतःपूर्ण रचना।
3. **कुलापक** – चार श्लोकों वाली स्वतःपूर्ण रचना।
4. **कुलक** – पांच श्लोकों वाली स्वतःपूर्ण रचना।
5. **कोण** – किसी कवि विशेष अथवा कई कवियों की मुक्तक रचनाओं का समुच्चय। जैसे – बिहारी सतसई।
6. **प्रघट्टक** – एक कवि का मुक्तक संग्रह।
7. **विकर्णक** – कोण का समानार्थी।
8. **संघात** – एक कवि द्वारा कई विषयों पर लिखे गये मुक्तकों का समूह।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध समालोचक गुलाबराय ने मुक्तकों के दो भेद किए हैं – पाठ्य मुक्तक और गेय मुक्तक। संस्कृत हिन्दी तथा अंग्रेजी के आचार्यों ने गेय मुक्तक (गीतिकाव्य) पर अधिक विचार किया है।

3.3. गीतिकाव्य :

गीतिकाव्य का मूलाधार भाव है, जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर गीति के रूप में फूट निकलता है। 'हिन्दी साहित्यकोश भाग-1' के अनुसार, "गीतिकाव्य हृदय के उस गंभीर भावावेश का परिणाम है, जो सहज उद्रेक और प्राकृतिक वेग के साथ निःसृत होता है।" हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा के अनुसार, "सुख दुःख की भावावेशमयी अवस्था, विशेषकर गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है।" सुप्रसिद्ध समालोचक डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, "जब कभी आत्मा भाव की अग्नि में पिघलकर बहने को हुई है, उसके ताप से वाणी द्रवीभूत हो गई है और भाव ने गीत का रूप धारण कर लिया है।"

गेय मुक्तक (गीतिकाव्य) के भेद

विद्वानों ने गेय मुक्तक के छः भेद किये हैं।

1. **साहित्यिक गीत** – काव्य-लालित्य से मुक्त विभिन्न विषयों पर लिखे गये कलात्मक गीत जैसे-महादेवी के गीत।
2. **लोकगीत** – आजकल अनेक गीतकारों द्वारा लोकगीत लिखे जाते हैं।
3. **लोकशैली में लिखित गीत** – लोक शैली में लिखे गये गीत। बच्चन और नरेन्द्र शर्मा के असंख्य गीत

इसी कोटि में आते हैं।

4. **नवगीत की विभिन्न शैलियां** – कुछेक गीतकारों ने 'नवगीत' नामक विधा का विकास किया है जिसमें विशिष्ट शिल्पविधि का प्रयोग किया गया है।
5. **तुक्तक क्षणिकाएं** – मुक्तक की तर्ज पर तुक्तक जिसमें तुक मिलाकर कोई छंद प्रस्तुत किया जाता है।
6. **रुबाइयां तथा गजलें** – उर्दू शैली में लिखित रुबाइयों और गजलों का भी प्रचुर मात्रा में प्रचलन है। धर्मवीर भारती ने भी कुछ रुबाइयां लिखी हैं।

गीतिकाव्य की विशेषताएं

1. **रचनानुभूति** – गीतिकाव्य में कवि की निजी अनुभूतियां घनीभूत रूप में प्रकट होती है। जब कवि किसी भाव या वस्तु का वर्णन करता है तो वह वर्णन कल्पना पर आश्रित न रहकर कवि की अपनी अनुभूति द्वारा आत्मसात किया हुआ वर्णन होता है। गीतिकाव्य में कवि की आंतरिक भावनाएँ प्रतिबिम्बित होती दिखाई देती हैं।
2. **भावात्मकता** – वर्डस्वर्थ ने कविता को मानव-मन की भावनाओं का सहज उच्छलन कहा है। गीतिकाव्य तीव्र भावावेश का परिणाम है जो सहज उद्रेक के साथ प्रस्फुटित होता है।
3. **रागात्मक अन्विति** – रागात्मक अन्विति भी गीतिकाव्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। गीतिकाव्य में आंतरिक लय सहज रूप से प्रवाहित होती दिखाई देती है।
4. **संगीतात्मकता** – आंतरिक संगीत, स्वर-व्यंजन मैत्री, भावानुकूल पदावली, सुचारु शब्द विन्यास के द्वारा कवियों ने संगीतात्मकता की सृष्टि की है।
5. **संक्षिप्तता** – संक्षिप्तता गीतिकाव्य का विशेष गुण है। गीतिकाव्य की भावना क्षणिक, आवेगमय और तात्कालिक होती है।
6. **कलात्मक शैली** – कोमल भावनाओं के अनुरूप कोमल-कांत पदावली, कलात्मक भाषा-शैली, बिम्ब, प्रतीक, अलंकार आदि से संकलित गीतिकाव्य एक रम्य रचना होती है।

3.4. सारांश :-

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काव्य का विषय गंभीर और व्यापक है। कथ्य, शैली, प्रस्तुति, आकार आदि की दृष्टि से काव्य के अनेक भेद हो सकते हैं। काव्यशास्त्र के विद्वानों ने काव्य के दो प्रमुख भेद किये हैं – दृश्य काव्य और श्रव्यकाव्य। दृश्यकाव्य के अन्तर्गत 'रूपक' काव्य आता है। 'रूपक' के विशिष्ट रूप 'नाटक' की चर्चा संस्कृत काव्यशास्त्र से लेकर आज तक हुई है। श्रव्य काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक काव्य, गीतिकाव्य की विशेष चर्चा की गई है सीमित कलेवर के कारण काव्य के प्रमुख भेदों को ही इस पाठ में समेटने का प्रयास किया गया है।

3.5. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. काव्य के वर्गीकरण के आधारों पर प्रकाश डालते हुए दृश्य काव्य के अन्तर्गत निरूपित विधा नाटक पर विस्तृत प्रकाश डालिए।

2. श्रव्यकाव्य के विशिष्ट भेदों पर प्रकाश डालिए।

3. महाकाव्य की परिभाषा देते हुए इसके लक्षणों का आकलन कीजिए।

4. मुक्तक काव्य की परिभाषा देते हुए इसकी विशेषताओं का आकलन कीजिए।

5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए – खण्ड काव्य, गीतिकाव्य, रूपक।

6. महाकाव्य व खंडकाव्य में क्या भेद है ? खंड काव्य की विशेषताएँ बताइए।

7. दृश्यकाव्य के उपभेदों पर प्रकाश डालिए।

3.6. संदर्भ ग्रंथ :

- (1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा
- (2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. सत्यदेव चौधरी
- (3) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र
- (4) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय
- (5) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र
- (6) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. बलदेव उपाध्याय

शब्दशक्ति और उसके भेद

- 4.0 भूमिका
- 4.1. अभिधा
 - 4.1.1. रूढ़ि
 - 4.1.2. यौगिक
 - 4.1.3. योग रूढ़ि
 - 4.1.4. अनेकार्थक शब्द
 - 4.1.5. अभिधा शब्द शक्ति का महत्त्व
- 4.2. लक्षणा
 - 4.2.1. लक्षणा के भेद
 - 4.2.2. लक्षणा शब्द शक्ति का महत्त्व
- 4.3. व्यंजना
 - 4.3.1. व्यंजना के भेद
 - 4.3.2. व्यंजना का महत्त्व
- 4.4. अभ्यासार्थ प्रश्न
- 4.5. संदर्भ ग्रंथ

4.0 भूमिका :

प्रिय विद्यार्थी ! शब्दों से वाक्य बनते हैं और वाक्यों से भाषा बनती है। शब्द और अर्थ की अर्थवत्ता में ही इनकी महत्ता मानी जाती है। जिस क्रिया के द्वारा अर्थ का बोध होता है उसे 'शक्ति' कहते हैं। शक्ति के आधार पर ही कोई शब्द अपना अर्थ प्रकट करता है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने शब्द की शक्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है –

“शब्द की शक्ति असीम है। ‘शब्द’ उच्चारण के साथ ही हमारे मत, कल्पना और अनुभूति पर प्रकाश डालता है। आचार या चटनी का नाम लेते ही मुंह में पानी भर आता है। ‘भूत’ या ‘सांप’ शब्द का उच्चारण करते ही मन में भय का संचार होता है। यह अर्थगत प्रभाव है। अतः जिस शक्ति के द्वारा शब्द का यह अर्थगत प्रभाव पड़ता है वही ‘शब्द शक्ति’ कहलाती है। ‘शब्द शक्ति’ शब्द का अर्थगत व्यापार है।”

काव्य शास्त्रियों के अनुसार ‘शब्द’ साधन है और ‘अर्थ’ साध्य है। उन्होंने अर्थ को ही काव्य का सर्वस्व माना है। शब्द को अर्थ का वाहक माना गया है क्योंकि अर्थ शब्द के ही माध्यम से व्यक्त होता है। शब्द शक्तियाँ, रीति, गुण, रस, अलंकार इसी अर्थ पर निर्भर करती हैं। वाक्य में शब्द का प्रयोग प्रसंग के अनुसार किया जाता है और उसका अर्थ भी प्रसंग के अनुसार ग्रहण किया जाता है। उदाहरणार्थ ‘गधा’ शब्द पशु विशेष का द्योतक है। ‘वह गधा है’ वाक्य में ‘गधा’ शब्द पशुवाचक न होकर मूर्खता का द्योतक है।

शब्द तीन प्रकार के माने गये हैं – वाचक, लक्षक और व्यंजक। इन्हीं शब्दों के आधार पर इनके तीन अर्थ भी होते हैं – वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। वाच्यार्थ वह है जिस अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है। लक्ष्यार्थ से प्रयोगकर्ता का अभिप्राय समझा जाता है। व्यंग्यार्थ द्वारा वच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ ध्वनित किया जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने शब्द की तीन शक्तियों की ओर संकेत किया है – अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। ‘साहित्य दर्पण’ में आचार्य विश्वनाथ ने शब्द के तीन अर्थ माने हैं – ‘अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यंग्यश्चेति त्रिधाः मतः।’

अर्थात् शब्द के अर्थ तीन होते हैं – वाक्य, लक्ष्य और व्यंग्य। इन्हीं तीनों के आधार पर उन्होंने तीन शब्द-शक्तियों की ओर संकेत किया है –

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।

व्यंग्यो व्यंजनया ताः स्युस्तिस्त्रः शब्दस्य शक्तयः।।

अर्थात् शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं – वाच्य का अर्थ कराने वाली अभिधा, लक्ष्य का बोध कराने वाली लक्षणा तथा व्यंग्य का बोध कराने वाली व्यंजना शब्दशक्ति होती है। शब्द शक्तियों के विधायक तत्त्व शब्द और अर्थ का विश्लेषण इस प्रकार है –

शब्द	अर्थ	शब्द शक्ति
वाचक	वाच्यार्थ	अभिधा
लक्षक	लक्ष्यार्थ	लक्षणा
व्यंजक	व्यंग्यार्थ	व्यंजना

तीनों शब्द शक्तियों का विश्लेषण इस प्रकार है –

4.1. अभिधा

लक्षणः साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने ‘अभिधा शब्द शक्ति का परिचय इस प्रकार दिया है’

“तत्र संकेतितार्थस्य बोधनाद अभिधा।।”

अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ अथवा संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार (मूल कारण) को अभिधा शब्द-शक्ति कहते हैं।

वाचक शब्द : जो मुख्य अर्थ अथवा संकेत अर्थ को बोध कराता है उसे वाचक शब्द कहते हैं। अर्थात् जिस शब्द का अर्थ अभिधा शक्ति द्वारा ज्ञान होता है उसे 'वाचक' शब्द कहते हैं।

वाच्यार्थ – अभिधा शब्दशक्ति द्वारा ज्ञान वाच्यार्थ कहलाता है। वाच्यार्थ किसी शब्द का निश्चित व संकेतित अर्थ होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक शब्द के लिए अर्थ नियत है और प्रत्येक अर्थ के लिए शब्द नियत है। किसी शब्द के अर्थ को संकेत कहा जाता है। अर्थज्ञान के लिए शब्द का संकेतार्थ जानना अत्यंत आवश्यक है। किसी शब्द के संकेतार्थ का ज्ञान आठ साधनों से हो सकता है –

1. **व्याकरण** – धातु, प्रत्यय लगाने से किसी शब्द का संकेतार्थ ज्ञान होता है।
2. **उपमान** – 'गाय के समान 'नील गाय' होती है' इस वाक्य में नील गाय को गाय के समान बताया गया है। इस प्रकार उपमान से भी अर्थ का ज्ञान होता है।
3. **कोश** – कोशों से भी शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है।
4. **व्यवहार** – किसी वस्तु को व्यवहार में लाने से भी किसी वस्तु का बोध होता है।
5. **वाक्य शेष** – कभी-कभी वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द का अर्थ मालूम नहीं होता किन्तु जब उस वाक्य के साथ अन्य वाक्य जोड़ दिया जाता है तो उस शब्द का अर्थ मालूम पड़ जाता है। यदि कोई कहे कि 'सिंह से डरना चाहिए' तो इस सिंह शब्द का पूर्ण संकेत ग्रहण नहीं होता। यदि इस वाक्य के साथ 'क्योंकि सिंह समस्त जंगली जीवों का राजा है' आदि वाक्य जोड़ने से 'सिंह' शब्द का अर्थ पूरी तरह समझ में आ जाता है।
6. **आप्त वाक्य** – श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि के आधार पर कहे गये वाक्य आप्त वाक्य कहलाते हैं। आप्त वाक्यों के आधार पर भी किसी शब्द का विशिष्ट ज्ञान हो जाता है।
7. **विवृति** – 'विवृति' से तात्पर्य है – विवरण। 'कुंभ को बनाने वाला' विवरण देने से कुंभकार का बोध होता है।
8. **सिद्धपक्ष सान्निध्य** – सिद्ध या ज्ञान शब्द की निकटता से भी शब्दार्थ का ज्ञान होता है। जैसे – वसंत में पिक मस्ती में कूकता है। यहाँ वसंत के सान्निध्य से 'पिक' का अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

अभिधा के संदर्भ में यहाँ वाच्यार्थ का उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा। वाच्यार्थ तीन प्रकार का होता है

4.1.1. रूढ़ि :

जहाँ केवल समुदाय शक्ति का बोध होता है, भागों की कल्पना नहीं की जाती, वहाँ रूढ़ि मानी जाती है जैसे –मणि इत्यादि।

4.1.2. यौगिक :

यहाँ केवल प्रकृति प्रत्यय के रूप में खण्ड करके ही अर्थ का बोध होता है वहाँ यौगिक अर्थ होता है जैसे – 'पाचक' शब्द के दो खण्ड हैं – पच+अक। 'पच्' का अर्थ है – पकाना और 'अक' का अर्थ है वाला। इस प्रकार जो पकाने का कार्य करता है उसे 'पाचक' कहते हैं।

4.1.3. योग रूढ़ि :

यहाँ यौगिक शब्द किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाता है वहाँ योग रूढ़ि होती है जैसे 'पंकज' शब्द का यौगिक अर्थ है – कीचड़ से उत्पन्न होने वाला। किन्तु इसका प्रयोग कीचड़ से उत्पन्न होने वाले सभी वस्तुओं के लिए न होकर केवल 'कमल' के लिए होता है। इसलिए यहाँ कमल 'योग रूढ़' शब्द है।

4.1.4. अनेकार्थक शब्द :

यहां 'अभिधा' के संदर्भ में अनेकार्थक शब्दों की चर्चा करना आवश्यक है। अनेकार्थक शब्दों के विषय में यह संदेह हो सकता है कि कवि को केवल एक ही अर्थ अभीष्ट है अथवा एक से अधिक। इसके लिए आचार्यों ने कतिपय नियम बनाये हैं, उनका अवलोकन आवश्यक है –

1. **संयोग से निर्णय** – जैसे – 'शंखचक्र' से युक्त हरि' इस वाक्यांश में 'शंखचक्र' के संयोग से विष्णु का अर्थ लिया जाएगा, सूर्य, सिंह, अश्व इत्यादि का अर्थ नहीं।
2. **वियोग से भी अर्थ नियंत्रित होता है** जैसे – 'शंखचक्र रहित हरि' यहाँ 'शंखचक्र' के वियोग से विष्णु का अर्थ निकलता है।
3. **साहचर्य से भी अर्थ का निर्धारण होता है** जैसे 'राम लक्ष्मण' में लक्ष्मण के साहचर्य से 'राम' (दशरथ का पुत्र) का अर्थ द्योतित होता है बलराम या परशुराम का नहीं।
4. **'विरोध' से निर्णय** – उदाहरणार्थ 'उनकी राम और अर्जुन की गति' होगी। इस वाक्य में विरोध के कारण 'राम' का अर्थ परशुराम और अर्जुन का नाम सहस्रार्जुन होगा।
5. **प्रयोजन से निर्णय** – उदाहरणार्थ, 'मुक्ति के लिए स्थाणु का भजन करो। यहां प्रयोजन से 'स्थाणु' का अर्थ शिव होगा, न कि वृक्ष खण्ड।
6. **प्रकरण** – उदाहरणार्थ 'देव सब समझते हैं' यहां प्रकरण से देव का अर्थ 'राजा' होगा, न कि देवता।
7. **विशिष्ट धर्म** – उदाहरणार्थ 'मकरध्वज कुपित हैं' वाक्य में मकरध्वज शब्द के दो अर्थ हैं – समुद्र व कामदेव। यहां कोप धर्म के कारण मकरध्वज का अर्थ कामदेव ही सिद्ध होता है।
8. **अन्य शब्द की सन्निधि** – यहाँ 'सन्निधि' का अर्थ है- समीपता। अनेकार्थक शब्दों का अर्थ निर्णय अन्य शब्दों की समीपता से भी होता है। जैसे – 'परशुराम ने सहस्रबाहु अर्जुन को मारा।' इस वाक्य में 'अर्जुन' शब्द का अर्थ कुन्तीपुत्र न होकर कर्णवीर्य होगा क्योंकि सहस्रबाहु की सन्निधि से यही अर्थ निकलता है।
9. **सामर्थ्य** – सामर्थ्य का अर्थ है – संपादन शक्ति। एक उदाहरण द्रष्टव्य है – 'कटि कटि अंग गिरहि सर

लागे।' यहाँ 'सर' शब्द के कई अर्थ हैं – सिर, तालाब, बाण आदि। यहाँ प्रसंगानुसार 'बाण' अर्थ ही समीचीन है क्योंकि बाण में अंगों को काटने की सामर्थ्य है।

10. **औचित्य** – 'औचित्य' से तात्पर्य है – पदार्थ की योग्यता। एक उदाहरण द्रष्टव्य है – "हरि के चढ़ते ही उड़ै सब द्विज एकै साथ।" यहाँ 'हरि' शब्द के कई अर्थ हैं – विष्णु, सूर्य, बंदर आदि। औचित्य की दृष्टि से यहाँ बंदर शब्द ही सार्थक है। इसी प्रकार 'द्विज' शब्द के कई अर्थ हैं ब्राह्मण, दांत, पक्षी आदि। उड़ने की योग्यता रखने के कारण यहाँ 'पक्षी' अर्थ ही सार्थक है।

11. **देश** – यहाँ 'देश' से तात्पर्य है – किसी स्थान की विशेषता (अनेकार्थ शब्दों का अर्थ निर्णय किसी स्थान की विशेषता के आधार पर निर्धारित किया जाता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

"मरु में जीवन दुर्लभ है।" 'जीवन' शब्द के कई अर्थ हैं – जिन्दगी, जल, जीविका, पवन आदि। यहाँ 'रेगिस्तान' के संदर्भ में 'जल' अर्थ ग्रहण करना समीचीन होगा।

12. **काल – 'काल' का अर्थ है** – समय या ऋतु। 'काल' से प्रातः, संध्या, मास, पक्ष, ऋतु आदि का बोध होता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है – "मधु में मदमस्त हुई कोकिल"। 'मधु' शब्द अनेकार्थक है – बसंत, मदिरा, शहद, सोमरस, दूध आदि। यहाँ प्रसंग के अनुसार 'बसंत', अर्थ ही सार्थक है क्योंकि कोकिल बसंत में ही मदमस्त होती है।

13. **पुल्लिंग या स्त्रीलिंग का प्रयोग**

अनेकार्थक शब्दों का निर्णय पुल्लिंग या स्त्रीलिंग द्वारा किया जाता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है – 'ललाट पर टीका बहुत सुंदर लगता है' 'टीका' शब्द के कई अर्थ हैं – तिलक, व्याख्या, कलंक, नजराना, आभूषण आदि।

यहाँ प्रसंगानुसार तिलक शब्द ही समीचीन है।

4.1.5. 'अभिधा' शब्द शक्ति का महत्त्व

वस्तुतः 'अभिधा' उस शब्दशक्ति को कहते हैं जिसकी सहायता से किसी शब्द का साधारण, प्रचलित या मुख्य संकेतित अर्थ समझा जाता है। मुख्य या प्रथम अर्थ का बोधक होने के कारण इसे 'मुख्या' या 'अग्रिमा' भी कहते हैं। आचार्य मुकुल भट्ट ने 'अभिधा' को मुख के समान मुख्य मानते हुए लिखा है – "जिस प्रकार शरीर के सभी अवयवों में सर्वप्रथम मुख दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार सभी अर्थों से पहले इसी का बोध होता है। अतः मुख की भांति मुख्य होने के कारण इसे अन्य सभी प्रतीक अर्थों का मुख कहते हैं। साक्षात् संकेतित अर्थ ही सभी अर्थों का मुख होता है। इसका बोध सभी प्रकार के प्रतीक अर्थों के पूर्व ही हो जाता है, अतः इसे शब्द की प्रथमा शक्ति कहते हैं।

आचार्य कुंतक ने अपने ग्रंथ में 'वक्रोक्ति' को विचित्रा अभिधा कहा है। उनकी दृष्टि में विचित्रा अभिधा से उत्तम कोई अन्य व्यापार नहीं है। हिन्दी के आचार्य कवि देव ने अपने ग्रंथ 'शब्द रसायन' के पष्ठ प्रकाश में अभिधा को प्रमुखता दी है और व्यंजना और लक्षणा को उससे हीन माना है। यथा –

“अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लच्छना लीन।

अधम व्यंजना रस कूटिल, उलटी कहत नवीन।।”

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अभिधा को शब्द के मुख्य अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति कहा है। पं. रामदहिन मिश्र ने अभिधा को साक्षात् सांकेतिक अर्थ का बोधक व्यापार कहकर अभिधा की व्याख्या की है तथा इसका महत्त्व प्रतिपादित किया है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार, “भाषा की जिस शक्ति से शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ का बोध होता है वह अभिधा शब्द शक्ति है।” वस्तुतः अभिधा प्रारंभिक अर्थ का बोध कराने वाली शब्द शक्ति है। आचार्य मम्मट, आचार्य विश्वनाथ, आचार्य भट्टलोल्लट ने ‘अभिधा’ शब्द शक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है।

4.2. लक्षणा

लक्षणा भी शब्द की महत्त्वपूर्ण शक्ति है जिसमें मुख्यार्थ के स्थान पर उससे सम्बन्ध रखने वाला दूसरा अर्थ लिया जाता है उसे लक्षणा कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने अपने ‘साहित्य दर्पण’ शीर्षक ग्रंथ में लक्षणा की परिभाषा इस प्रकार दी है—

मुख्यार्थ बाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।

रूढे प्रयोजनाद् वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता ॥

अर्थात् मुख्यार्थ की बाधा होने पर, रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण, जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा शब्दशक्ति कहते हैं।

जो शब्द लक्षण शक्ति द्वारा लक्ष्यार्थ का द्योतन करता है उसे लक्षक अथवा ‘लाक्षणिक’ शब्द कहते हैं। लक्षणा शक्ति द्वारा गृहीत अर्थ ‘लक्ष्यार्थ’ कहलाता है। वस्तुतः नये अर्थ को उत्पन्न करना लक्षणा शब्दशक्ति का कार्य है। लक्षणा के प्रयोग से कथन में एक अनूठापन आ जाता है। इसके द्वारा चमत्कार की सृष्टि होती है जो प्रभावशाली और अह्लादक होता है। कहावतों—मुहावरों की अर्थ—गरिमा शब्द शक्ति के चमत्कार के कारण है। ‘लक्षणा’ शब्दशक्ति के पांच बिन्दु दृष्टव्य हैं—

1. व्याकरण की दृष्टि से लक्षणा में वाक्य वाक्यांश होता है।
2. लक्षणा के अन्तर्गत विशेष शब्द या शब्द समूह का वाच्यार्थ ग्रहण करने में बाधा उपस्थित होती है।
3. लक्षणा श्रोता के लिए एक ऐसे अर्थ की उद्भावना करती है जो मुख्यार्थ से किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित है।
4. लक्षणा में कल्पित अर्थ को मुख्यार्थ से जोड़कर वांछित अर्थ की प्राप्ति होती है।
5. लक्षणा में मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ पर रूढ़ि (परम्परा) द्वारा पहुंचा जाता है।

आचार्य मम्मट ने भी लक्षणा शब्द शक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

मुख्यार्थ बाधे लघोगे रूढि तोऽथ प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सालक्षणारोपिता क्रिया ॥

(काव्य प्रकाश, 2/9)

अर्थात् जहाँ अभिधा द्वारा अर्थ की सिद्धि में बाधा होने पर किसी रूढ़ि या आश्रित मुख्यार्थ से सम्बन्धित दूसरा आरोपित अर्थ ग्रहण कर अवरोध दूर किया जाता है, वहाँ लक्षणा का व्यापार समझना चाहिए । लक्षणा व्यापार में तीन तथ्य प्रमुख हैं –

1. मुख्यार्थ में बाधा
2. मुख्यार्थ से सम्बन्धित दूसरा अर्थ ।
3. अर्थ को रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर समझना

लक्षण का एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

‘नौकर गधा है ।’

यहाँ नौकर गधा कैसे हो सकता है – यह मुख्यार्थ में बाधा है । नौकर गधे के समान मूर्ख है– यह मुख्यार्थ से सम्बन्धित कार्य है ।

यह अर्थ प्रयोजन के आधार पर ग्रहण किया गया है ।

4.2.1. लक्षणा के भेद

रूढ़ि और प्रयोजन के आधार पर लक्षणा के दो भेद हैं – रूढ़ि लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा ।

अ. रूढ़ि लक्षणा – जहाँ मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाता है, वहाँ रूढ़ि लक्षणा होती है जैसे– ‘पंजाब बहादुर है’ यहां ‘पंजाब’ का मुख्यार्थ (प्रदेश विशेष) छोड़कर उसके रूढ़ या लोक प्रचलित नवीन अर्थ ‘पंजाबवासी’ या ‘पंजाबी’ ग्रहण किया गया है । अतः यहां रूढ़ि लक्षणा है ।

आ. प्रयोजनवती लक्षणा

जहाँ किसी विशेष अभिप्राय या प्रयोजन से लाक्षणिक शब्द का प्रयोग हो, वहां प्रयोजनवती लक्षणा होती है, जैसे– ‘शिवाजी शेर थे ।’

यहाँ शेर के मुख्यार्थ अर्थात् पशु विशेष को छोड़कर उसके नवीन अर्थ निर्भयता और निडरता को लिया गया है जो विशिष्ट प्रयोजन का द्योतक है ।

प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद हैं – गौणी और शुद्ध । जहाँ सादृश्य गुण के आधार पर अर्थ लगाया जाता है वहाँ गौणी लक्षणा होती है । ‘चन्द्र-मुख’ में सादृश्य के आधार पर गौणी लक्षणा है । जहां मुख्यार्थ के बाधिक होने पर सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्ध द्वारा लक्ष्यार्थ का ज्ञान हो, वहाँ शुद्धलक्षणा होती है । जैसे– ‘गंगायां घोष’ अर्थात् गंगा की – सी पवित्रता व शीतलता । इन दोनों के भी दो प्रमुख भेद हैं – उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा । उपादान लक्षणा को अजहत्स्वार्था लक्षणा भी कहते हैं । उपादान का अर्थ है– सामग्री लेना अर्थात् मुख्यार्थ को लक्ष्यार्थ के रूप में ग्रहण किया जाता है । जैसे– ‘मिला न वन ही न भवन ही तुझको’ यहां वन से तात्पर्य ‘लक्ष्मण’ और ‘भवन’ से तात्पर्य सभी सुखों से है । ‘लक्षणलक्षणा’ को जहत्स्वार्था भी कहते हैं । जहाँ लक्ष्यार्थ की प्रधानता हो और मुख्यार्थ का उपयोग न हो वहां लक्षण लक्षणा होती है जैसे ‘गंगायां घोषः’ ।

उक्त चारों शब्द शक्तियों के भी दो-दो भेद हैं – सारोपा और साध्यवसाना । जहाँ उपमेय (विषय) और उपमान (विषयी) का शब्द द्वारा अलग-अलग कथन किया जाए वहाँ सारोपा लक्षणा होती है जैसे—

रामकथा सुंदर करतारी । संशय विहन उड़ावन हारी ॥

यहाँ रामकथा पर 'करतार' और 'संशय' पर 'विहन' का आरोप है ।

जहाँ आरोप के विषय का शब्द द्वारा निर्देश न होकर, केवल मूलवस्तु का उल्लेख हो, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है । जैसे— 'नैश गगन के गात्र में पड़े फफोले हाय ।'

यहाँ 'तारे' उपमान का अध्यवसान (लोप) है, उसकी सूचना केवल आरोत्यमान 'फफोले' से दी गई है ।

इस प्रकार लक्षणा के कुल मिलाकर आठ भेद हुए । उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1. गौणी उपादान लक्षणा सारोपा

उदाहरण — 'वह देखो सामने खड़ा हड्डियों का ढांचा है ।'

यहाँ 'हड्डियों का ढांचा' का लक्ष्यार्थ है—दुबला—पतला आदमी । यहां वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य होने के कारण गौणी है । व्यक्ति, हड्डियों का ढांचा होने के साथ-साथ क्षीणकाय भी है, अतः यहां उपादान लक्षणा भी है । 'वह' और 'हड्डियों का ढांचा' में उपमेय—उपमान का आरोप होने के कारण 'सारोपा' भी है ।

2. गौरी उपादान लक्षणा साध्यवसाना

उदाहरण—

**जब हुई हुकूमत आँखों पर जन्मी चुपकी मैं आहों में ।
कोड़ों को खाकर मार पली, पीड़ित की दबी कराहों में ॥**

(रामधारी सिंह 'दिनकर')

उक्त पंक्तियों में 'कोड़ों' की खाकर मार का लक्ष्यार्थ है— अतिशय अत्याचार । यहां वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण गौणी है । 'कोड़ों की मार खाकर' अतिरिक्त अर्थ अत्याचार भी है । अतः यहां उपादान लक्षणा है । यहाँ केवल अप्रस्तुत का प्रयोग किया गया है, अतः यहाँ साध्यवसाना है ।

3. गौणी लक्षण—लक्षणा सारोपा

उदाहरण

स्वर्गलोक की तुम अप्सरि थी ।

तुम वैभव मे पली हुई थीं ॥

(हरिकृष्ण प्रेमी)

यहाँ 'तुम' और 'अप्सरि' में सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण गौणी है । यहाँ वाच्यार्थ 'अप्सरि' (अप्सरा) वक्ता को अभीष्ट नहीं है अपितु सर्वांग सुंदरी मोहिनी आदि अभीष्ट है, अतः यहाँ लक्षण लक्षणा है । 'तुम' और 'अप्सरि' में उपमान—उपमेय का आरोप होने के कारण सारोपा है ।

यहाँ 'तुम' और 'अप्सरि' में सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण गौणी है । यहां वाच्यार्थ 'अप्सरि' (अप्सरा) वक्ता को अभीष्ट नहीं है अपितु सर्वांग सुंदरी मनमोहिनी आदि अभीष्ट है, अतः यहाँ लक्षण लक्षणा है । 'तुम और 'अप्सरि' में उपमान-उपमेय का आरोप होने के कारण सारोपा है ।

4. गौणी लक्षणलक्षणा साध्यवसाना

उदाहरण -

'फूले कमलन यों अली, विहँसि चितै इहिं ओर ॥'

यहाँ नायक और भ्रमर, नायिका और कमल में सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण गौणी है । भ्रमर और कमल का अर्थ छूटने से लक्षण लक्षणा है । केवल उपमान के कथन के कारण साध्यवासना है ।

5. शुद्धा उपादान लक्षणा सारोपा

उदाहरण-

'भाले आए, जब वहां, चले बाण घन्घोर ।'

यहाँ 'भाले' शब्द का वाच्यार्थ अस्त्र विशेष है तथा लक्ष्यार्थ भालाहारी पुरुष । दोनों में धार्य-धारक सम्बन्ध है अतः शुद्धा है । 'भाला' का अर्थ 'भालाधारी' अर्थ होने के कारण उपादान लक्षणा है । यहाँ 'ये' विषयी है और 'भाले' विषय है, अतः यहाँ सारोपा है ।

6. शुद्धा उपादान लक्षण साध्यवसाना

उदाहरण

विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है ।

अरी ! हृदय को थाम महल के लिए झोंपड़ी बलि होती है ॥

यहाँ 'महल' का लक्ष्यार्थ है - महलों में रहने वाले धनी 'झोंपड़ी' का लक्ष्यार्थ है- झोंपड़ी निवासी निर्धन । 'महल और धनी' 'झोंपड़ी और निर्धन' में आश्रय-आश्रित का सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा है । 'महल' और 'झोंपड़ी' के अतिरिक्त अर्थों के कारण उपादान लक्षणा है । यहाँ विषयी का प्रयोग होने और 'निवासी' का प्रयोग न होने के कारण यहाँ साध्यवसाना है ।

7. शुद्धा लक्षण-लक्षणा सारोपा

उदाहरण -

'आज भुजंगों से बैठे हैं वे कंचन के घड़े दबाए ।

(हरिकृष्ण प्रेमी)

यहाँ 'भुजंग' का वाच्यार्थ है सर्प और लक्ष्यार्थ धन संग्राहक व्यक्ति । 'भुजंग' और 'वे' ये तात्कर्म्य सम्बन्ध होने का कारण शुद्धा है । 'भुजंग' शब्द का अर्थ अभीष्ट नहीं है अतः यहाँ लक्षण लक्षणा है ।

‘भुजंग’ और ‘वे’ में विषय-विषयी का सम्बन्ध होने के कारण सारोपा है ।

8. शुद्धा लक्षणलक्षणा साध्यवसाना

उदाहरण

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी ।

आँचल में है दूध, और आँखों में पानी ॥

(मैथिलीशरण गुप्त)

उक्त पंक्तियों में ‘आँचल’ का तात्पर्य है – पयोधर । आँचल और पयोधर में सामीप्य सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा है । ‘आँचल’ का मूलार्थ गौण होने के कारण लक्षण-लक्षणा है ।

4.2.2. लक्षणा शब्द शक्ति का महत्त्व

कतिपय आचार्यों ने लक्षणा शब्दशक्ति के महत्त्व को रेखांकित किया है । उन्होंने इसे काव्योत्कृष्टता का मूलाधार माना है । रीतिकालीन कवि घनानन्द ने लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग में नैपुण्य हासिल किया है । घनानन्द के लाक्षणिक प्रयोगों की प्रशंसा करते हुए आचार्य शुक्ल जी कहते हैं – ‘अपनी भावनाओं के अनूठे रूप-रंग का व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ । भाषा के लक्षणा व्यंजना बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख उन्हीं को थी ।’ इसी प्रकार छायावादी कवियों ने लाक्षणिकता को विशेष महत्त्व दिया है ।

4.3. व्यंजना

आचार्य विश्वनाथ ने ‘साहित्य दर्पण’ में व्यंजना की परिभाषा इस प्रकार दी है—

विरतास्वाभिधाद्यासु यथार्थो बोध्यते परः ।

सा वृत्ति व्यंजना नाम शब्दस्यार्थदिकस्य च ॥

अर्थात् अभिधा और लक्षणा द्वारा अपना-अपना अर्थ ज्ञात करके शांत हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, उसे ‘व्यंजना’ शब्दशक्ति कहते हैं । जिस शब्द से व्यंजना शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है उसे व्यंजक शब्द कहते हैं । व्यंजना शक्ति द्वारा प्रतीत अर्थ व्यंग्यार्थ होता है ।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, ‘व्यंजना शक्ति ऐसे अर्थ को बतलाती है, जो अभिधा, लक्षणा या तात्पर्य वृत्ति द्वारा उपलब्ध नहीं होता ।’ वास्तव में व्यंजना शब्द शक्ति भाषा की वह शक्ति है जिसके कारण किसी प्रसंग या प्रकरण विशेष में एक साथ अनेक स्वतंत्र अर्थों की अभिव्यक्ति होती है ।

4.3.1 व्यंजना के भेद

विद्वानों ने व्यंजना शब्द शक्ति के दो भेद किये हैं – ‘शब्दी’ और ‘आर्थी’ । शब्दी व्यंजना में व्यंजक शब्द की प्रधानता रहती है और आर्थी व्यंजना में व्यंजक अर्थ की । व्यंजना के दोनों अर्थ भेदों की व्याख्या इस प्रकार है—

अ. **शाब्दी व्यंजना** – इसके दो उपभेद हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला ।

क. **अभिधामूला व्यंजना**

अभिधामूला व्यंजना उसे कहते हैं जिसके द्वारा अनेकार्थक शब्द के उस अन्य अर्थ की प्रतीति होनी होती है जो संयोग या वियोग आदि नियामक कारणों द्वारा घोषित हो चुका हो । एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मुखर मनोहर स्याम रंग बरसत मुद अनुरूप ।

झूमत मतवारी झमकि, वनमाली रस रूप ॥

यहाँ 'वनमाली' का संयोग (प्रकरण) द्वारा 'मेघ' अर्थ द्योतित होता है किन्तु अभिधामूला व्यंजना द्वारा वनमाली का 'कृष्ण' अर्थ सटीक प्रतीत होता है ।

ख. **लक्षणामूला व्यंजना**

वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के उपरान्त प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे लक्षणामूला व्यंजना कहते हैं । एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'गंगायां घोषः' अर्थात् गंगा नदी पर घोष (अहीरों की बस्ती) है । इस वाक्य—खंड का वाच्यार्थ स्पष्ट है इसका लक्षणामूला व्यंजना से अर्थ होगा – घोष शीतल और पवित्र है ।

आ. **आर्थी व्यंजना**

जहाँ वक्ता की चेष्टा विशेष के कारण व्यंग्यार्थ का बोध हो, वहाँ आर्थी व्यंजना होती है । आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्य प्रकाश' में शब्द का अर्थ लगाने के 10 आधार माने हैं— (1) वक्ता (2) बोधव्य (श्रोता) (3) काकु (4) वाक्य (5) वाच्य (6) अन्यसन्निधि (7) प्रस्ताव (प्रकरण) (8) देश (9) काल (10) चेष्टा आदि । इन्हीं विशेषताओं के कारण आर्थी व्यंजना भी दस प्रकार की मानी जाती है । आर्थी व्यंजना के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

(1) **वक्तृ वैशिष्ट्यमूलक आर्थी व्यंजना**

उदाहरण :

निरखि सेज रंग रग भरी, लगी उसासे लैन ।

कछु न चैन चित में रह्यौ, चढत चांदनी रैन ॥

अर्थात् होली के दिनों में चांदनी रात में नायिका की अवस्था का वर्णन करते हुए एक सखी नायक को कहती है कि रंग-बिरंगी सेजों को देखकर वह आहें भरने लगती है और विकल हो जाती है । इस कथन से वक्ता का प्रयोजन यह है कि नायक अत्यंत निष्ठुर है, उसे अपनी नायिका से अलग नहीं रहना चाहिए ।

(2) **बोद्धव्य (श्रोतृ) वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना**

उदाहरण :

खोके आत्मगौरव, स्वतंत्रता भी जीते हैं ।
मृत्यु सुखदायक है वीरों, इसे जीने से ॥

(वियोगी हरि)

वे अत्यंत विलासी हैं अतः इस परतंत्रता से तो मर जाना अच्छा है ।

(3) प्रस्ताव (प्रकरण) वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना

उदाहरण :

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम को प्राणों के पण में ।

हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते ।

सखी ! वे मुझसे कहकर जाते ।

(मैथिलीशरण गुप्त)

यह अपनी सखी से यशोधरा की उक्ति है । प्रकरणगत व्यंग्यार्थ यह है कि यदि गौतम यशोधरा से कहकर जाते तो उन्हें यह पुण्यकार्य में कोई बाधा न पहुँचती ।

4.3.2. व्यंजना की महत्ता

वस्तुतः व्यंजना शब्द शक्ति काव्य की उत्कृष्टता का मूलाधार है । कतिपय काव्यशास्त्र के मर्मज्ञों ने रस को काव्य की आत्मा माना है लेकिन रस का वही रूप श्रेष्ठ माना है जो व्यंजना से व्यंजित हो । आचार्य आनंदवर्द्धन ने उसी काव्य को श्रेष्ठ माना है जो व्यंजना प्रधान हो । डॉ० पुष्पा बंसल के अनुसार, 'व्यंजना शक्ति वक्ता की मानसिक भूमि में प्रवेश करने का एक सुंदर व सशक्त द्वार है ।'

काव्यशास्त्र के कतिपय विद्वानों ने इन तीनों शब्द शक्तियों के अतिरिक्त एक चौथी शब्दशक्ति भी मानी है जिसे 'तात्पर्यवृत्ति' कहते हैं । मीमांसकों की धारणा है कि तीनों शब्दशक्तियाँ शब्द के अर्थ को प्रस्तुत करती हैं, पूरे वाक्य के अर्थ को नहीं । 'तात्पर्य वृत्ति' पूरे वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करने में सहायता करती है । 'तात्पर्य वृत्ति' को समझते हुए कन्हैयालाल पोखर ने कहा है, "वाक्य में योग्यता, आकाँक्षा और सन्निधि (आसक्ति) का होना आवश्यक है । वाक्य अनेक पदों से युक्त होता है । वाक्य में जो पृथक्-पृथक् स्वतंत्र पद होते हैं उनके पृथक् पृथक् अर्थ का बोध कराना, अभिधा का कार्य है । उनके बिखरे हुए पदों के अर्थों का परस्पर एक को दूसरे के साथ जोड़कर वाक्य बनता है । उस वाक्य के अर्थ का जो बोध कराती है, उसे तात्पर्यवृत्ति कहते हैं ।"

वाक्य में, वाक्य से पृथक् पद का कोई अर्थ नहीं है । पदों में वाक्य का अर्थ बोध नहीं होता अपितु वाक्य द्वारा ही पदों का पूर्ण अर्थ द्योतित होता है । कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों के अनुसार पदों के अन्वय अर्थ का ज्ञान तात्पर्य वृत्ति से होता है । वस्तुतः शब्द शक्ति एक सार्वजनीन सिद्धांत है और काव्य के मूल तत्व को अधिक सफलतापूर्वक आत्मसात् किये हैं, इसमें संदेह नहीं । कविता का लक्ष्य अर्थबोध मात्र नहीं है, किन्तु परिशीलन में संवेदना जगाना और उसके हृदय का विस्तार करना है ।

4.4. अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'शब्द शक्ति' की परिभाषा देते हुए 'अभिधा' शब्द शक्ति का विस्तृत परिचय दीजिए ।

2. अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शब्दशक्ति का परिचय देते हुए काव्य में इनकी उपयोगिता का निरूपण कीजिए ।

3. काव्य के लिए इन तीनों शब्द शक्तियों में से कौन-सी महत्त्वपूर्ण है ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए ।

4. "व्यंजना शब्द शक्ति वक्ता की मानसिक भूमि में प्रवेश करने का एक सुंदर व सशक्त द्वार है ।" इस कथन के आलोक में व्यंजना शब्दशक्ति का परिचय देते हुए इसकी महत्ता प्रतिपादित कीजिए ।

5. शब्द शक्ति के आलोक में अनोकार्थक शब्दों का परिचय दीजिए।

6. लक्षणा शब्द शक्ति के भेदों-उपभेदों का परिचय दीजिए।

7. व्यंजना के भेद बताते हुए इसकी महत्ता बताइए।

4.5. संदर्भ ग्रंथ

- (1) हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1) – सं. धीरेन्द्र वर्मा
- (2) समीक्षा सिद्धांत – डॉ. राम प्रकाश
- (3) भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका – डॉ. नगेन्द्र
- (4) भारतीय काव्यशास्त्र – योगेन्द्र प्रताप सिंह
- (5) भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत – गणपतिचन्द्र गुप्त

4.6 सहृदय की अवधारणा :-

‘रस-निष्पत्ति’ और ‘साधारणीकरण’ की प्रक्रिया के बीच सहृदय की कल्पना बहुत महत्वपूर्ण है । काव्यास्वादन की प्रक्रिया में हमारे सामने तीन सत्ताओं की मौजूदगी होती है—कवि, वस्तु और सहृदय । नगेन्द्र रीतिकाव्य की भूमिका में कहते हैं कि—

“कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाता है, वस्तु तत्त्वतः उसकी अनुभूति है और हृदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस संवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है ।”

यह भी स्पष्ट है कि रस सर्वथा सामाजिक गत होता है, सहृदयगत होता है । रस की स्थिति वस्तुतः सहृदय की आत्मा में होती है, वस्तु में नहीं । वस्तु तो केवल उसको उद्बुद्ध करती है ।

सहृदय का शब्दिक अर्थ है – संवेदनायुक्त व्यक्ति, रसिक, जो दूसरों के दुःख-सुख आदि को समझने की योग्यता रखता हो । अतः काव्य में सहृदय की कल्पना का अपना विशिष्ट अर्थ है । सहृदय कौन है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि—

“सहृदय शब्द का अर्थ है – समान हृदय वाला । कवि, चित्रकार, मूर्तिकार या शिल्पी के हृदय में जो विशिष्ट भाव रहता है, उनका वही अनुभव कर सकता है, जो उसी प्रकार का अनुभूति सम्पन्न हृदय रखता है । कलाकार के चित्त में जो व्याकुलता होती है, उसे रूप देने का प्रयत्न ही कला है ।.....जिस प्रकार की व्याकुलता उसके चित्त में होगी उसी प्रकार की व्याकुलता उसकी कृति सहृदय के हृदय में उत्पन्न कर सकती है, उससे ज़्यादा नहीं ।”

वस्तुतः द्विवेदी जी यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जब तक रचयिता के चित्त में स्वयं रस की अनुभूति नहीं होती तब तक उसका चित्र दर्शक के हृदय में भी रस का उद्रेक नहीं कर सकता । स्पष्ट है कि रसानुभूति सहृदय को भी होनी चाहिए । भरत से लेकर अभिनवगुप्त तक सभी ने इसे स्वीकारा है ।

कवि एवं सहृदय की सत्ता के बीच जहां कवि का महत्त्व है वहीं सहृदय की सत्ता को भी महत्वपूर्ण माना गया है । डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में—

“कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेषणीय बनाता है कि उसको ग्रहण करके सहृदय को आनंद की उपलब्धि होती है ।” इसलिए—

“सहृदय की रसानुभूति में तो किसी को संदेह हो ही नहीं सकता । परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस रस की स्थिति दोनों (कवि एवं सहृदय) में से किस में है ? इसका ठीक उत्तर वही है जो अभिनव गुप्त ने दिया है – अर्थात् सहृदय में । क्योंकि जब हम प्रसन्न होते हैं तो अपने हृदय-रस का, अपने आनन्द का ही अनुभव करते हैं । आनंद की स्थिति तो हमारे अपने अन्तर में ही है ।”

इस प्रकार नगेन्द्र रसानुभूति की प्रक्रिया के बीच सहृदय की सत्ता और उसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि रस की वास्तविक स्थिति सहृदय के हृदय में ही होती है । यहाँ पर नगेन्द्र इस सवाल से भी रूबरू होते हैं कि सहृदय की रस-चेतना को जाग्रत करने के लिए कवि क्या करे ? जाहिर है कि कवि तो अपनी अनुभूतियों

को व्यक्त करेगा लेकिन वह अभिव्यक्ति कैसी हो ? इस पर विचार करते हुए कहा कि –

‘अनुभूति को अभिव्यक्त करने में कवि को अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है, और उस संवेदित अनुभूति को ग्रहण करने में सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन होता है । इस प्रकार कवि अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है, अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के मन में । क्योंकि यदि कवि के कथन में रस नहीं है तो सहृदय में स्थित रस सुप्त पड़ा रहेगा और यदि सहृदय के हृदय में रस नहीं है तो कवि का संवेद्य निष्फल हो जाएगा ।’

इस प्रकार नगेन्द्र ने सहृदय के महत्त्व को स्वीकारा है और कहा है कि सहृदय की चेतना का साधारणीकरण या निर्मुक्ति रसास्वादन की अंतिम एवं आधारभूत क्रिया है ।

अभिनवगुप्त ने ‘ध्वन्यालोकलोचन’ में कहा कि रसचर्चणा के लिए रसिक का हृदय-संवाद होना जरूरी है । ...हृदय-संवाद की शक्ति ही सहृदयत्व है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल की विचारधारा भी कुछ इसी तरह की है । वे लिखते हैं – “रसानुभूति की स्थिति में सहृदय के मन में विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के योग से उसका स्थायी भाव कल्पना-प्रक्रिया के द्वारा एक अखंड सौन्दर्यसत्ता के रूप में परिणत हो जाता है और इस प्रकार एक विशिष्ट रूपात्मक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करता है । यह रूपात्मक सौन्दर्य रसभोक्ता को रसास्वादन में तन्मय बना देता है ।” यह वह स्थिति है जिसमें सहृदय विशिष्ट प्रकार के आनंद का अनुभव करता है । शुक्ल जी ने प्रत्यक्ष रूपविधान, स्मृति रूपविधान तथा कल्पित रूपविधान के आधार पर भावों की जागृति को माना तथा कहा कि इस जागृति के पश्चात् ही सहृदय रसानुभूति में सक्षम होता है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि सहृदय पहले बाह्य रूप को प्रत्यक्ष करता है और धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर जाता है । उनके अनुसार (और भारतीय आचार्यों के भी अनुसार) – “जब तक कलाकार के चित्त में स्वयं रसानुभूति नहीं होती तब तक वह सहृदय को भी रसबोध नहीं करवा सकता । कलाकार अंतरतर की अनुभूति को रूप देता है और सहृदय उस रस का बाह्य प्रत्यक्ष करके अंतर्मुखी होता है ।”

4.7 सारांश :-

स्पष्ट है कि रस सहृदय श्रोता या पाठक के चित्त में उत्पन्न होता है । इसलिए साधारणीकरण की प्रक्रिया में सहृदय का अपना विशिष्ट महत्त्व है जिसे संस्कृत आचार्यों ने भी स्वीकारा है और हिन्दी के आचार्यों ने भी उसे महत्त्वपूर्ण माना है ।

4.8 कठिन शब्द :-

- | | | | |
|---------------|---------------|-------------|--------------|
| 1. सहृदय | 2. प्रक्रिया | 3. विशिष्ट | 4. जागृति |
| 5. रसानुभूति | 6. अखंड | 7. रूपात्मक | 8. प्रतिष्ठा |
| 9. सार्वदेशिक | 10. व्यक्तिगत | | |

4.9 अभ्यासार्थ प्रश्न :-

1. रस-निष्पत्ति पर विचार करते हुए रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालें।

2. रस-निष्पत्ति विषयक भट्टलोल्लट के मत की व्याख्या कीजिए।

3. साधारणीकरण विषयक विभिन्न आचार्यों के मतों पर प्रकाश डालिए।

4.10 संदर्भ ग्रंथ

- (1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा
- (2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. सत्यदेव चौधरी
- (3) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र
- (4) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय
- (5) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र
- (6) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. बलदेव उपाध्याय

.....

रस सम्प्रदाय: विभिन्न आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ

- 5.0 रूपरेखा
 - 5.1 उद्देश्य
 - 5.2 प्रस्तावना
 - 5.3 रस सम्प्रदाय विभिन्न आचार्य एवं उनकी स्थापनाएं
 - 5.4 आधुनिक युग में रस चिन्तन
 - 5.5 सारांश
 - 5.6 कठिन शब्द
 - 5.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
 - 5.8 संदर्भ ग्रंथ
- 5.1 रूपरेखा :-**
प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप
- ◆ रस सम्प्रदाय के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
 - ◆ ध्वनि पूर्ववर्ती रस विरोधीधारा के आचार्यों के मतों को जान सकेंगे।
 - ◆ रसवादी धारा के आचार्यों के मतों को जान सकेंगे।
 - ◆ ध्वनि परवर्तीकाल के आचार्यों के सिद्धान्तों को जान सकेंगे।
 - ◆ आधुनिक युग में रस चिन्तन को समझ सकेंगे।
- 5.2 प्रस्तावना :-**

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त सर्वप्रमुख एवं सबसे प्राचीन काव्य-सिद्धान्त है। शेष सम्प्रदायों का विकास इसके बाद या इसी के सन्दर्भ रूप में हुआ। सामान्य व्यवहार में रस का प्रयोग चार अर्थों में होता है- पदार्थों का

रस, आयुर्वेद का रस, साहित्य का रस, भक्ति का रस । साहित्य का रस ही काव्य सौन्दर्य, काव्यास्वाद और काव्यानन्द कहा जा सकता है ।

5.3 रस सम्प्रदाय विभिन्न आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ :-

रस सम्प्रदाय की लम्बी और सुदृढ़ परम्परा रही है । जिसे सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बांटा जा सकता है – ध्वनि पूर्ववर्ती काल, ध्वनि काल और ध्वनि परवर्ती काल । लेकिन रस के सम्पूर्ण विवेचन का आधार रस सिद्धान्त का सूत्रपात करने वाले भरतमुनि के प्राचीनतम् ग्रन्थ 'नाट्य शास्त्र' का यह प्रसिद्ध सूत्र है ।

‘तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।’

अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि के संयोग से इसकी निष्पत्ति होती है । अपने कथन को स्पष्ट करते हुए भरतमुनि उदाहरण देते हैं ।

“यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्..... स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति ।”

अर्थात् जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि प्रत्यो, व्यंजनों और औषधियों से षाडवादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी (नाट्य) रस रूप को प्राप्त होते हैं । अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए भरतमुनि प्रश्न करते हैं 'रसः इति कः पदार्थः ।' रस कौन-सा पदार्थ है ? उत्तर स्वरूप कहते हैं 'आस्वाद्यत्वात्' आस्वाद्य होने से अर्थात् जो आस्वाद्य हो, वह रस है । जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से रस का आस्वादन करते हुए हर्षादि का अनुभव होता है उसी प्रकार प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनय द्वारा व्यंजित स्थायी भाव का आस्वादन करते हुए हर्षादि को प्राप्त करते हैं । नाट्य माध्यम से आस्वादित ये रस नाट्य रस कहलाते हैं ।

भारतमुनि के रस विवेचन के दो आधार हुए रस निष्पत्ति और प्रेक्षक द्वारा आस्वाद/उनके सिद्धान्त के मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं—

1. रस अनुभूति नहीं है बल्कि अनुभूति का विषय है अर्थात् रस विषयीगत (आत्मगत, व्यक्तिनिष्ठ, Subjective) नहीं है, वह विषयगत (वस्तुगत, Objective) है ।
2. स्थायी भाव रस नहीं है, किन्तु रस का आधार है । जैसे रति स्थायी भाव अपने मूल रूप में शृंगार रस नहीं है, किन्तु नायक-नायिका प्रसंग को परस्पर देखने, हर्ष, व्याकुलता आदि भावों से जोड़कर आंगिक, वाचिक, सात्विक अभिनय द्वारा जब रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है तो शृंगार रस सामने आता है ।
3. यह स्थायी भाव बहुआयामी होता है जो केवल कवि का ही न होकर नायक का भी होता है और लोक सामान्य (प्रेक्षक) का भी ।
4. सहृदय रस का आस्वाद हर्षादि रूप में करता है । रस का आस्वाद सुमनस् (संस्कारी), सहृदय करता है । आस्वाद रूप में रस प्रेक्षक की मनोमय प्रक्रिया है ।

भरतमुनि के इस सूत्र से दो बातें सामने आयीं— एक तो यह कि रस प्रत्यक्षात्मक है या अनुमित है या शाब्द । दूसरी बात यह कि रस अनुकार्य या अनुकारक में रहता है या फिर सहृदय में । उदाहरणार्थ रंगमंच पर दुष्यन्त शकुन्तला का अभिनय करने वाले नर-नारी जब वाचिक, आंगिक, सात्विक अभिनय द्वारा अनुभाव, व्यभिचारी आदि की अभिव्यक्ति करते हुए रति स्थायी भाव को सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत करते हैं तो एक रमणीक, भावमूलक स्थिति उत्पन्न होने से प्रेक्षक के चित्त में हर्ष, कौतुहल आदि जागृत होते हैं । यह रमणीय भावमूलक स्थिति ही भरत के अनुसार रस है । रस की यह परिभाषा विषयगत है । इस परिभाषा के पश्चात् रस का स्वरूप क्रमशः विषयगत होता गया और वह आस्वाद्य से आस्वाद बन गया ।

भरतमुनि के प्रथम व्याख्याकार भट्टलोल्लट ने शकुन्तला विषयक रति से युक्त नट् दुष्यन्त में रस बोध प्रत्यक्षात्मक माना और रस ज्ञान के सामने उपस्थित नट में 'लौकिक' और आरोपित दुष्यन्त अंश में 'अलौकिक' कहा । रस अनुकार्य में 'मुख्य' और अनुकारक में 'आरोपित' माना ।

दूसरे व्याख्याकार शंकुक ने दुष्यन्त कृति शकुन्तला विषयक रति का 'नट' में अनुमान करने से अनुकार्य में रहने वाले रस का सामाजिक में अनुमित्यात्मक ज्ञान का होना माना । जबकि भट्टनायक के अनुसार रस सामाजिक में रहता है और आत्मसाक्षात्कार का माध्यम है । सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्या अभिनवगुप्त की है जिन्होंने रस को विषयीगत माना । उनके अनुसार 'रस' का अर्थ है आनन्द और यह आनन्दविषयीगत है । उन्होंने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी से अभिव्यक्त सहृदय में स्थित इत्यादि स्थायी भाव को रस कहा और रस को साक्षात्कार रूप कहा ।

रस विषयक विषयगत और विषयीगत मान्यता को केन्द्र में रखकर सम्पूर्ण संस्कृत काव्यशास्त्र में रस सम्प्रदाय का जो विकास हुआ है उसे डॉ० नगेन्द्र के अनुसार इस रूप में समझा जा सकता है —

1. ध्वनि पूर्ववर्ती काल (ईसा की पहली-दूसरी सदी से आठवीं सदी के अन्त तक का काल जिसमें रूद्रट तक आते हैं) । इस काल को रस विरोधी धारा (भामह, दण्डी, वामन, उद्भट और रूद्रट) तथा रसवादी धारा (लोल्लट, शंकुक, रूद्रभट) में विभाजित किया जा सकता है ।
2. ध्वनि काल (नवीं सदी के आरम्भ से ग्यारहवीं सदी के मध्य तक, इसमें आनन्दवर्द्धन से लेकर भोज तक की परम्परा के आचार्य समाहित हैं) । इस काल को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं— 1. रसवादी (प्रत्यक्ष रसवादी भट्टनायक, भट्टलोल्लट, अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय, धनिक, महिम भट्ट) और (अप्रत्यक्ष रसवादी आनन्दवर्द्धन और क्षेमेन्द्र) । (2) समन्वयवादी (भोज) । (3) स्वतन्त्र (कुन्तक) ।
3. ध्वनि परवर्ती काल (ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर सत्रहवीं सदी के अन्त तक, इसमें मम्मट से लेकर जगन्नाथ तक आचार्य आते हैं) और आधुनिक युग ।

क्रमानुसार आचार्य एवं उनके सिद्धान्त निम्नलिखित हैं —

5.3.1 ध्वनि पूर्ववर्ती रस विरोधी धारा के आचार्य—

क) भामह — नाट्यशास्त्र के पश्चात् भामह का काव्यालंकार 'रस' का विवेचन करता है । भामह ने स्वतन्त्र

रस-विवेचन नहीं किया फिर भी उनकी निश्चित धारणा है कि काव्य को रसयुक्त होना चाहिए । उन्होंने रसवत्ता का कारण शब्दार्थ का चमत्कार माना, जिसे वे काव्यालंकार विवेचन की परंपरानुसार वक्रोक्ति कहते हैं । उनमें रस-निष्पत्ति का युक्तियुक्त समाधान नहीं मिलता किन्तु वे इतना तो जानते थे कि नाटक के समान काव्य में भी अर्थों के विभाजन से रस-निष्पत्ति होती है । हालांकि अर्थ-विभाजन के लिए उन्हें वक्रोक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य शब्द शक्ति का ज्ञान न था इसलिए रस का समावेश अलंकार योजना के अन्तर्गत रसवद् अलंकार के रूप में किया । काव्य के सन्दर्भ में रस-चर्चा करते हुए उन्होंने रस का तीन प्रसंगों में उल्लेख किया – महाकाव्य के प्रसंग में, अलंकारों के प्रसंग में और काव्य-महात्म्य के प्रसंग में ।”

ख) दण्डी ने काव्य के सन्दर्भ में रस की चर्चा की । उन्होंने मधुर गुण का सम्बन्ध रस से माना और कहा कि वाक् के साथ वस्तु में भी रस स्थित होता है । सभी अलंकार अर्थ में रस सिंचन करते हैं । भरतमुनि के समान उन्होंने विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी से परिपुष्ट स्थायी भाव को रस कहा । विभावादि सामग्री की प्रचुरता ही स्थायी भावों को रस की कोटि तक पहुंचा देती है । भामह की अपेक्षा दण्डी का रस विवेचन अधिक पुष्ट है । भामह केवल शृंगार रस के उदाहरण से रस विषय को स्पष्ट करते हैं जबकि दण्डी ने आठ रसों का वर्णन किया । भामह अलंकारवादी और दण्डी रीति के प्रति उदार है । इस प्रकार दण्डी रस के अधिक निकट अलंकारवादियों के अनुपात में अधिक हैं ।

ग) वामन ने दण्डी का अनुसरण करते हुए गुणों के आधार पर रीति के सहारे रस चर्चा को आगे बढ़ाया । उन्होंने भामह और दण्डी के विपरीत रस को अलंकार के क्षेत्र में रखकर सीधे गुणों के आधार पर प्रतिष्ठित किया । उनकी दृष्टि में 'क्रान्ति' नामक गुण में जो दीप्ति होती है उसका सम्बन्ध रस से है । दूसरी ओर उन्होंने शृंगार के उदाहरण से अपनी रस दृष्टि की सीमा भी स्पष्ट कर दी । इस दृष्टि से वे दण्डी से आगे नहीं बढ़ पाये बल्कि पीछे रहे ।

घ) उद्भट्ट ने रस का वर्णन रसवद् आदि अलंकारों के अन्तर्गत करके भामह का अनुकरण किया, भरत का नहीं । उन्होंने शान्त को मिलाकर नौ रसों का वर्णन किया । रस को नाटक में साध्य एवं काव्य में साधन माना । भामह आदि अलंकारवादियों की भांति उन्होंने नाटक का प्राण तत्व रस को कहा किन्तु काव्य में रस की स्थिति के सम्बन्ध में उनकी निश्चित धारणा थी कि वह उक्ति चारुत्व में योगदान करके काव्य का उत्कर्ष करता है । उद्भट्ट की वस्तुवादी दृष्टि ने रस निष्पत्ति का अभिप्राय उत्पत्ति से लिया । हालांकि भामह और वामन की अपेक्षा नाटक से अधिक जुड़ाव के कारण रस के आस्वाद्य रूप से उनका अधिक परिचय था और अनुपात में वे भाव-विभूति को इन आचार्यों की अपेक्षा अधिक महत्व देते थे ।

ङ) रूद्रट्ट प्रथम अलंकारवादी आचार्य थे जिन्होंने काव्य के सन्दर्भ में लिखित अलंकार ग्रन्थ के अन्तर्गत स्पष्ट और विस्तृत रस विवेचन किया । उनके रस विवेचन द्वारा शब्दार्थ और रस परस्पर सम्मुख हुए । उन्होंने रस का स्वतन्त्र वर्णन किया रसवद् आदि अलंकार के रूप में नहीं । यद्यपि काव्य भेदों में नाटक की उपेक्षा से उन्होंने भामह का अनुकरण किया है लेकिन रस-प्रसंग में भरत के ऋणी हैं । शब्दार्थ को ही काव्य कहकर उन्होंने अपनी वस्तुवादी दृष्टि का परिचय दिया । वास्तव में वे वस्तुवादी और आत्मवादी मिलान बिन्दु पर अवस्थित हैं ।

समग्रतः रस विरोधी या अलंकारवादी आचार्यों ने प्रतिपादित किया है कि अलंकार, गुण, रीति के द्वारा शब्दार्थ

में ऐसा सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है जिसकी परिणति अन्ततः रस में होती है । ये आचार्य रस की वस्तुवादी या देहवादी परिभाषा की श्रेणी में खड़े दिखाई देते हैं किन्तु इतना तो स्पष्ट है ही कि परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों के लिए इन्होंने रस विषयक विचारणा की महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि तैयार की ।

5.3.2 ध्वनि पूर्ववर्ती रसवादी धारा के आचार्य-

अ) **लोल्लट** ने भरत सूत्र की व्याख्या की, साथ ही पहली बार रस के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया और भाव के साथ उसका प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ सम्बन्ध किया। उन्होंने रस को शब्दार्थ का अंग (वस्तुवादी) न मानकर मानव भावों की परिणति (आत्मवादी) रूप मानकर रस सम्प्रदाय के उत्कर्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई । इसके अतिरिक्त उन्होंने रस के विषय में दो महत्त्वपूर्ण उद्घोषणाएं की- नट में भी रस और भावों की अनुभूति सम्भव मानने से नट को भी 'रस' का आस्वादन कर्ता माना और मूलतः रस को अनन्त कहा फिर भी आठ रसों को उचित ठहराया।

ब) **शंकुक** ने रस की दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या की । रस को शब्दार्थ धर्म की सीमित दृष्टि से ऊपर उठाकर अनुमान आदि मन की क्रिया के रूप में उपस्थित किया। लोल्लट की भांति शंकुक ने भी रस को नाट्य रस के अर्थ में ग्रहण किया किन्तु लोल्लट अनुकार्य और अनुकारक तक सीमित हैं जबकि शंकुक रस में सहृदय की उपस्थिति मानकर उसे सहृदय तक पहुँचा देते हैं ।

स) **रुद्रभट्ट** का मूल विषय रस ही है । उन्होंने प्रत्यक्षतः रस के प्रति अपना रुझान इस प्रकार व्यक्त किया है – जैसे चन्द्रमा के बिना रात्रि, पति के बिना स्त्री और त्याग के बिना लक्ष्मी हैं, इसी प्रकार रस के बिना कविता शोभायमान नहीं होती ।

इस प्रकार जहां एक ओर, अलंकारवादी (रसविरोधी) आचार्य शब्दार्थगत चमत्कार से आह्लादित थे वहीं दूसरी ओर, रसवादी आचार्य भरतमुनि के सूत्र की व्याख्या और परिष्कार करते हुए रस के भावाश्रित और आस्वाद्य रूप का दार्शनिक एवं आस्वाद रूप में गम्भीर विवेचन किया ।

2. ध्वनि काल के प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष रसवादी, समन्वयवादी एवं स्वतन्त्र आचार्य :

ध्यान देने की बात है कि ध्वनि की स्थापना रस से भिन्न रूप में हुई, लेकिन धीरे-धीरे ध्वनि और रस अभिन्न होते गये । इस प्रकार ध्वनि काल वास्तव में रस सिद्धान्त का स्वर्ण युग सिद्ध हुआ ।

च) **भट्टनायक** रस का प्रत्यक्ष समर्थन करने वाले आचार्यों में सर्वप्रथम हैं । उन्होंने बड़े दार्शनिक ढंग से समस्त जगत को एक नाटक माना जिसका रसास्वादन व्यक्ति करता है । उन्होंने काव्य-रस को सर्वांग रसों (पदार्थ, आयुर्वेद, भक्तिरस) से श्रेष्ठ माना। व्यंजना का निराकरण कर रस की मुक्ति को मान्यता प्रदान कर, काव्य में रस की चर्चा कर काव्यास्वाद की मौलिक समस्या का समाधान किया । अभिनवगुप्त की भांति सामाजिक में रस की अनुभूति को प्रमाणिक मानकर रस के विषयगत स्वरूप को स्वीकारा । साथ ही काव्यार्थ और प्रमाता के बीच भोज्य-भोजक सम्बन्ध स्वीकार करके लोल्लट के वस्तुनिष्ठ और अभिनवगुप्त के सर्वथा आत्मनिष्ठ रस सिद्धान्त की अतियों से बचते हुए मध्यम मार्ग अपनाया ।

छ) **भट्टलोल्लट** रस की स्थिति नट में नहीं मानकर सामाजिक में मानते हैं । नट के अभिनय कौशल से रस सहृदय

में प्रतिष्ठित होता है । भट्टलोल्लट की रस सिद्धान्त को सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने कवि दृष्टि से विचार करते हुए रस योजना में कवि के अनुभव को समाकलित किया । इस प्रकार नट और प्रेक्षक के बीच माध्यम रूप में कवि को केन्द्र में रखा और रस के साधारणीकरण की अवधारणा को पूर्णता प्रदान करने की कड़ी में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

ज) **भरतमुनि** बेशक रस के आदिम आचार्य माने जाते हैं किन्तु रस सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण एवं प्रमुख आचार्य निर्विवाद रूप से **अभिनवगुप्त** हैं । उन्होंने रस की अनुकार्यगत और नटगत (अभिनेतागत) स्थिति को अमान्य ठहराकर सहृदय को प्रतिष्ठित किया । भरतमुनि के वस्तुपरक एवं आस्वाद्य रूप को आत्मगत और आस्वाद रूप में परिवर्तित किया । रस को अखण्ड एवं अद्वैत मानकर उसके खण्डित स्वरूप को नकारा । भरत के समान उन्होंने इस सिद्धि को विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी से सम्भव माना किन्तु उसका पूर्ण उत्कर्ष रसावयवों के समानुपात एवं समान प्रधानता के द्वारा ही सम्भव मानकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया । अभिनव द्वारा प्रस्तुत कविगत रस की व्याख्या अत्यन्त प्रामाणिक है । भरत के 'नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्र.....' उदाहरण की शास्त्रीय दृष्टि से विवेचना कर रस परिपाक और रसस्वाद जैसे विषयों पर चिन्तन किया । रस के उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध पर भी गहन विचार किया । उन्होंने शान्त रस के साथ शृंगार रस की भी विशद विवेचना की ।

झ) **राजशेखर** के अनुसार प्रकृति या भौतिक पदार्थ कितने भी रमणीक क्यों न हों, वे काव्य के लिए पर्याप्त नहीं हैं, उसके लिए रस अनुकूलता अनिवार्य है । **धनंजय और धनिक** ने रस के साथ काव्य का सम्बन्ध व्यंजक-व्यंग्य का न मानकर भावक-भाव्य का माना । उन्होंने रस को शब्दार्थ का मूल और एकमात्र तात्पर्य घोषित किया । इन दोनों आचार्यों की भांति ध्वनिवाद का खण्डन करते हुए महिमभट्ट ने काव्य की आत्मा रसादि को ही माना । उन्होंने सीधे-सीधे कहा- जहाँ रस है वहाँ काव्य है और जहाँ रस नहीं है, वहाँ काव्य भी नहीं है ।

ड़) रस का अप्रत्यक्ष समर्थन करने वालों में **आनन्दवर्द्धन** और **क्षेमेन्द्र** मुख्य हैं । आनन्दवर्द्धन ने काव्य को व्यंग्य प्रधान मानते हुए विभिन्न व्यंग्यों में मात्र रसादि को ही स्वीकृत किया । गुण, रीति, अलंकार आदि को रसाश्रित कहा । काव्य के छोटे-छोटे अवयव (वचन, कारक, प्रत्यय आदि) से लेकर प्रबन्ध काव्य तक में रस का प्रकाशन होता है । वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि को रस से जोड़कर अधिक सुन्दर बनाया । काव्य के सभी भेदों (मुक्तक से महाकाव्य तक) में रस प्राणतत्व के रूप में रहता है । क्षेमेन्द्र ने भी रससिद्ध काव्य को ही काव्य पद का अधिकारी माना । काव्य में आस्वादन करने योग्य रस ही होता है लेकिन इतना जरूर है कि औचित्य के द्वारा रस और अधिक आस्वादनीय बन जाता है । उनके लिए रस काव्य का प्रधान तत्व है किन्तु रस का आधार औचित्य है । रस सिद्धान्त भी यह मानता है कि औचित्य के अभाव में रस मात्र रसाभाव बनकर रह जाता है ।

य) **भोज** ने साहित्य के तीन भेद वक्रोक्ति, रसोक्ति, स्वभावोक्ति करते हुए रसोक्ति पर अधिक आग्रह किया । वे भामह और दण्डी के प्रति भी उदार हैं और वामन, आनन्दवर्द्धन से भी प्रभावित रहे । अतः रस का पक्षपात करते हुए भी सैद्धांतिक रूप में समन्वयवादी कहे जा सकते हैं ।

र) **कुन्तक** ने आनन्दवर्द्धन की ध्वनि या क्षेमेन्द्र की औचित्य परम्परा से स्वतन्त्र होकर वक्रोक्ति के संदर्भ में रस विवेचना की । उन्होंने काव्य-लक्षण और प्रयोजन के अन्तर्गत रस का महत्त्व स्वीकारा । उनके अनुसार काव्य का

सर्वोत्कृष्ट रूप प्रबन्ध का प्राणतत्त्व रस है । काव्य वस्तु के सन्दर्भ में भी उन्होंने रस को अधिक महत्त्व दिया । साथ ही काव्य भेद और काव्य मार्ग में भी रस की महत्ता स्वीकार की ।

समग्रतः ध्वनि काल में भट्टनायक, भट्टलोल्लट, अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय, धनिक और महिमभट्ट ने प्रत्यक्षतः रस सिद्धान्त का विवेचन किया । जबकि आनन्दवर्द्धन ने रस ध्वनि और क्षेमेन्द्र ने रसाश्रित औचित्य द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से रस की प्रतिष्ठा की । भोज का समन्वयवादी दृष्टिकोण ध्वनि को प्रधान रूप से स्वीकार करते हुए अलंकार और रीति के प्रति उदार होते हुए भी रस के प्रति आस्थावान है । एकमात्र कुन्तक ऐसे स्वतन्त्र आचार्य हैं जिन्होंने वक्रोक्ति सिद्धान्त के रूप में रस से भिन्न, सम्प्रदाय को सामने रखा । हालांकि इनका विरोध ध्वनि के प्रति अधिक है रस के प्रति अपेक्षाकृत उदार रहे हैं ।

5.3.3. ध्वनि परवर्ती काल के आचार्य एवं उनके सिद्धान्त—

मम्मट ने रस को प्रयोजन रूप में अनिवार्यतः काव्य मानते हुए भी आत्मतत्त्व ध्वनि को ही माना । रस का विवेचन स्वतन्त्र काव्यांग रूप में न करके रस ध्वनि रूप में ही किया है । मम्मट के पश्चात् रस विवेचन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नाम आचार्य विश्वनाथ का आता है । इन्होंने रस का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया है — ‘सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः..... रसः ।’ अर्थात् चित्त में सतो गुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्कारवान् सहृदय जन अखण्ड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त, ब्रह्मास्वाद सहोदर, लोकोत्तर चमत्कारप्राण रस का निज स्वरूप से अभिन्न आस्वादन करते हैं । इस प्रकार रस अपने आप में अखण्ड है अर्थात् रस में उत्तम, अति उत्तम, श्रेष्ठ जैसे कोटियां नहीं होती ।

- रस को खण्डित करके नहीं देख सकते अर्थात् यह नहीं बता सकते कि यह आलम्बन है, यह आश्रय है, ये भाव हैं या विभाव हैं । तात्पर्य यह है कि अनुभाव, विभाव और संचारी के संयुक्त रूप से ही रस बनता है ।
- यह स्वयं प्रदर्शित होता है । यह ज्ञातव्य नहीं है अर्थात् शृंगार रस कहने से ही शृंगार की प्रतीति नहीं होती जब तक कि सहृदय स्वयं काव्य या नाटक को न पढ़े या देखे ।
- यह चिन्मय आनन्द रूप है, चेतन आनन्द है । यह, आनन्द, नहीं है अर्थात् यह स्वप्नजन्य आनन्द नहीं है ।
- रसास्वाद की स्थिति में अन्य आस्वादनो का ज्ञान नहीं रहता । संवेदनीय पदार्थों का बोध नहीं होता अर्थात् प्रमाता के लिए रसास्वाद की अवस्था तन्मयता की अवस्था है ।
- यह ब्रह्मास्वाद का भाई (ब्रह्मास्वादसहोदरः) है । यह निर्विकल्प ज्ञान या समाधि की स्थिति जैसा आनन्द है ।
- यह लोकोत्तर होता है अर्थात् रसास्वाद कल्पना का आनन्द है, ऐन्द्रिय आनन्द नहीं ।
- यह चमत्कारपूर्ण होता है । गूंगे के गुड़ जैसी आनन्दमयी एवं चमत्कारमयी स्थिति सहृदय की हो जाती है ।
- यह अपने स्वरूप (आकार) से अभिन्न होता है ।

भरत सूत्र के पश्चात् विश्वनाथ का रस स्वरूप रस सम्प्रदाय की अनमोल निधि है । ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ पद—समूह उनकी रस के प्रति रुचि को स्पष्ट करता है । पंडितराज जगन्नाथ ने अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित

चिद्विशिष्ट-भाव के विपरीत भाव विशिष्ट चित् को रस कहा। उन्होंने विशिष्ट अर्थ से सम्पृक्त रमणीयता की अवधारणा से रस चिन्तन को पुष्ट किया। उनके अनुसार रति आदि भाव विषयक आवरण रहित आत्मचैतन्य ही रस है।

ध्वनि परवर्ती काल में गौण रूप में हेमचन्द्र, विद्याधर, रुय्यक, रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि आचार्यों के नाम गिने जा सकते हैं किन्तु इनका महत्व इस सम्प्रदाय की दृष्टि से नगण्य है। इस युग के विश्वनाथ ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण आचार्य स्वीकार किए जा सकते हैं।

5.4 आधुनिक युग में रस चिन्तन-

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस-मीमांसा' नामक ग्रन्थ से आधुनिक युग (बीसवीं सदी) में रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की। डॉ० निर्मला जैन ने आचार्य शुक्ल का महत्व रस दृष्टि से स्वीकारते हुए कुछ बातें पूर्ववर्ती रस परम्परा से भिन्न रूप में संकेतित की हैं-

- शुक्ल जी ने भाव की परिभाषा प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति के गूढ़ संश्लेष के रूप में करके भाव को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया।
- बिम्ब विधान के माध्यम से विभाव पक्ष को व्यापकता प्रदान की।
- रस को मात्र रसास्वाद की सीमा से ऊपर उठाकर कर्तव्यनिष्ठा से जोड़ा। उनकी दृष्टि में रस आनन्द है और आनन्द तभी वास्तविक होता है जब वह मनुष्य को कर्म की प्रेरणा दे।
- शुक्ल जी ने साहित्य में व्यक्ति वैचित्र्यवाद का विरोध करके लोक सामान्य नायक का आदर्श स्थापित किया।
- रस की चमत्कारप्रियता एवं अलौकिकता को आध्यात्मिकता से मुक्त करके उसे वैज्ञानिक एवं भौतिक अनिवार्यता से जोड़ा।
- रस के मूल रागात्मक तत्व को प्रधानता देते हुए रस की उत्तम और मध्यम कोटियां मानकर अनुपातिक मूल्यांकन पद्धति को महत्त्व देते हुए रस सिद्धान्त की महत्ता सिद्ध की।
- रस को सुखात्मक और आनन्दकारी मानकर भारतीय काव्यशास्त्र में व्यक्त रस सिद्धान्त के दायित्व को स्वीकार किया।

डॉ० नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'रस-मीमांसा' में रस सम्प्रदाय का इतिवृत्त प्रस्तुत करने के क्रम में स्वयं भी रस सम्बन्धी मान्यताएं स्थापित कर दी हैं। जिन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है - उन्होंने आचार्य शुक्ल की भौतिक रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। लोकमंगल और लोककल्याण को रस का पर्याय माना। डॉ० नगेन्द्र की रस क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने साधारणीकरण का तर्कसम्मत समाधान प्रस्तुत करते हुए सर्वांग का साधारणीकरण स्वीकार किया। रस का प्रसार प्रबन्ध से लेकर प्रगति तक स्वीकृत किया। साहित्यिक मूल्यांकन हेतु समस्त काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों में उन्होंने रस को सर्वाधिक समर्थ, सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक महत्त्व का सम्प्रदाय घोषित किया।

5.5 सारांश -

इस प्रकार अपने प्रारम्भिक चरण में जो रस विषयप्रधान था, वह उत्तरोत्तर विषयीप्रधान होता गया। नाट्य रस से लेकर सहृदय रस और उससे आगे कवि-रस के रूप में उसका विकास हुआ। भौतिक, आध्यात्मिक रस के साथ

अन्ततः बौद्धिक रस की अवतारणा हुई । रस महज आनन्द की सीमा से उठकर लोकमंगल और कर्तव्य की उच्च आदर्श भूमि पर अधिष्ठित हुआ । आधुनिक युग तक आते-आते वस्तुवादी और आत्मवादी दृष्टि से आगे बढ़कर रस को मनोवैज्ञानिक रूप प्राप्त हुआ । इस पूरे क्रम में भरतमुनि को रस-सूत्र, अभिनवगुप्त द्वारा भरत सूत्र की व्याख्या और आचार्य विश्वनाथ को रस के स्वरूप विवेचन की दृष्टि से विशेष गौरव पद प्रदान किया जाता है । तथापि अन्य आचार्यों का महत्त्व रस सम्प्रदाय की व्याख्या, विवेचन और परिष्कार की दृष्टि से सराहनीय है ।

5.6 कठिन शब्द –

- | | | |
|-------------|-----------|--------------|
| 1. आनन्द | 2. गौरव | 3. मूल्यांकन |
| 4. परिष्कार | 5. चिन्तन | 6. प्रेक्षक |

5.7 संदर्भ ग्रंथ

- (1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा
- (2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. सत्यदेव चौधरी
- (3) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र
- (4) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय
- (5) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र
- (6) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. बलदेव उपाध्याय

.....

अलंकार सम्प्रदाय : आचार्य एवं उनके सिद्धान्त

- 6.0 रूपरेखा
- 6.1 उद्देश्य
- 6.2 प्रस्तावना
- 6.3 अलंकार सम्प्रदाय: आचार्य एवं उनके सिद्धान्त
- 6.4 ध्वनि काल में अलंकार
- 6.5 सारांश
- 6.6 कठिन शब्द
- 6.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 6.8 संदर्भ ग्रंथ

6.1 उद्देश्य :-

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप-

- ◆ अलंकार सम्प्रदाय के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ◆ अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों एवं उनके सिद्धान्तों से अवगत हो सकेंगे।
- ◆ ध्वनि काल में अलंकार के रूप को जान सकेंगे।

6.2 प्रस्तावना :-

अलंकार की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बतायी गयी है- 'अलंकारोतीत्यलंकारः' तथा 'अलंक्रियतेऽनेन इत्यलंकारः' अर्थात् जो अलंकृत करे उसे अलंकार कहते हैं अथवा जिसके द्वारा अलंकृत किया जाये उसे अलंकार कहते हैं। संस्कृत आचार्यों की दृष्टि में जो तत्व काव्य को लोक और शास्त्र के क्षेत्र से ऊपर उठाकर चमत्कार सम्पादन और रमणीयता के अनुभावन के कारण हों, वे सब अलंकार शब्द से अभिहित किये जाने के अधिकारी हैं चाहे वे लक्षण हों, गुण हों या स्वयं रस ही क्यों न हो।

6.3 अलंकार सम्प्रदाय आचार्य एवं उनके सिद्धान्त :-

किसी भी काव्यशास्त्रीय तत्व का लक्ष्य ग्रन्थों या लक्षण ग्रन्थों की दृष्टि से महत्व प्रतिपादित करते समय उस तत्व का मूल स्रोत आचार्य भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में ढूँढा जाता है। इस दृष्टि से अलंकार के महत्व का वाचक कोई सूत्र— 'नाट्यशास्त्र' में उपलब्ध नहीं होता। वहाँ तो अलंकारों के स्रोत रूप में मात्र चार अलंकार उपमा, रूपक, यमक और दीपक ही प्राप्त होते हैं। इसी के साथ भरतमुनि ने 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' कहकर रस के महत्व को काव्य में प्रतिपादित किया, अलंकार के महत्व को नहीं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार के महत्व का श्रीगणेश भरत के युग से नहीं वरन् भामह के युग से हुआ। इसका कारण यह है कि भामह के युग में लक्ष्य ग्रन्थों में अलंकारजन्य सौन्दर्य उपलब्ध होता है। जबकि उससे पूर्व रसपरक सौन्दर्य मूल रूप में नाट्य साहित्य से ही सम्बद्ध था।

6.3.1 भामह से ही अलंकारों की चर्चा आरम्भ होती है क्योंकि हर्ष, अश्वघोष, कालिदास आदि के ग्रन्थों में उन्होंने पाया कि रसानुभूति तो 10-15 पृष्ठ पढ़ने के बाद होती है किन्तु प्रत्येक श्लोक में चारुत्व एवं चमत्कार दृष्टिगोचर होता है जिसका कारण अलंकार रूप में सामने आया। भामह ने वक्रता की जो बात कही वह वस्तुतः अलंकार की ही बात है। अलंकार काव्य का महत्वपूर्ण तत्त्व है किन्तु उस अलंकार का अलंकार्य रूप वक्रता नहीं है वहाँ अलंकार नहीं हो सकता -

'वक्राभिधेयशब्दोवितरिष्टा वाचामलंकृति ।'

अर्थात् शब्द अर्थ की वक्रता या वैचित्र्य को अलंकार कहा जाता है। भामह ने स्वाभाविक सौन्दर्य को नकारते हुए कहा कि काव्य में बिना अलंकार के सौन्दर्य है, वह वस्तुतः सौन्दर्य नहीं है—

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्'

अर्थात् कोमलागंना नारी का सुन्दर मुख भी अलंकार के बिना सुशोभित नहीं होता। इस प्रकार उन्होंने 'न कान्तमपि निर्भूषं' कहकर अलंकार सापेक्ष और अलंकार निरपेक्ष सौन्दर्य में अन्तर किया और यह सिद्ध किया कि अलंकारहीन साहजिक (नैसर्गिक) सौन्दर्य की गरिमा भी अलंकारजन्य कलात्मक सौन्दर्य पर आधारित है। इस दृष्टि से देखें तो काव्य में इससे अधिक अलंकार का महत्व प्रतिपादित करने वाला कोई दूसरा आचार्य काव्यशास्त्र में नहीं हुआ। इसके साथ ही यह भी स्थापित किया कि सौन्दर्य अथवा चारुत्व ही काव्य का मूल तत्व है, जिसकी प्रसवभूमि केवल अलंकार है। उन्होंने शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों को स्वीकारते हुए रस के व्यापक धर्म को भी अन्ततः अलंकारों के अधीन कहा।

6.3.2 दण्डी ने 'काव्यशोभाकरान्' सूत्र के द्वारा काव्य में चारुत्व के उत्पादक तत्वों को अलंकार कहा और उसके दो रूप माने—साधारण अलंकार (जिन्हें अलंकार कहा) और असाधारण अलंकार (जिन्हें गुण से अभिहित किया) उनके अनुसार अलंकार काव्य का शोभाकारक धर्म होता है। अलंकार के धर्म से आशय अलंकार के सहज गुणों से है। दण्डी के मतानुसार अलंकार के अभाव में काव्य की स्थिति हो ही नहीं सकती। उन्होंने सन्धि और उसके अंग, वृत्ति और कृत्यांग आदि को भी अलंकारों में समाहित किया। इस प्रकार उन्होंने ऐसे सभी तत्वों को अलंकार का स्थान

दे दिया जो काव्य संपादन की दृष्टि से उपादेय हो सकते हैं । उन्होंने अनुप्रास, यमक को असाधारण तथा स्वाभावोक्ति, उपमा को साधारण अलंकार माना । काव्य शोभा के सम्पादक धर्म होने के कारण रस भाव आदि को भी अलंकार रूप मानकर भामह की भांति रसवत् आदि अलंकारों में परिगणित किया ।

6.3.3 वामन ने अलंकार विषयक दो बातें कही— पहली यह कि काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है और दूसरी यह कि काव्य के शोभाकारक धर्म गुण होते हैं किन्तु उस शोभा की श्रीवृद्धि अलंकार से होती है । उन्होंने सौन्दर्य को अलंकार कहा 'सौन्दर्यम् अलंकारः' और इस सौन्दर्य के कारण ही काव्य को ग्राह्य कहा । दण्डी ने अलंकार को सौन्दर्य का पर्याय मानकर उसे भावात्मक रूप में प्रस्तुत किया । उनकी दृष्टि में अलंकार सौन्दर्य भी है । सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाला भी है । इस प्रकार वामन ने एक ओर अलंकारों के कारण काव्य की ग्राह्यता सिद्ध की और दूसरी ओर गुणों को काव्य का नित्य धर्म तथा अलंकारों को अन्तिम धर्म स्वीकार किया ।

उद्भट ने भामह के अलंकार चिन्तन को और अधिक सुदृढ़ एवं व्यापक आधार प्रदान किया । उन्होंने रसवत्, प्रेयस्वत्, उर्जस्वी और समाहित अलंकारों में समस्त रसप्रपंच का अन्तर्भाव किया । आक्षेप, समासोक्ति आदि अलंकारों में वस्तु रूप व्यंग्य को वाच्यार्थ का उपकारक मानकर अलंकारों को प्राधान्य दिया । इस प्रकार उन्होंने रस, वस्तु, अलंकार को वाच्यालंकारों में समाहित करके अलंकार का अंगित्व या आत्मत्व सिद्ध किया ।

6.3.4 कुन्तक ने 'सालंकारस्य काव्यता' कहकर अलंकार को काव्य का अविभाज्य अंग माना । जिस प्रकार शरीर के शोभा-कारक होने के कारण 'कुण्डल' आदि में अलंकार शब्द मुख्यतया प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार काव्य में शोभाजनक होने के कारण उपमा आदि अलंकार शब्द का मुख्य और काव्य शोभा के सम्पादक गुण आदि में तथा गुण, रीति, अलंकार आदि के प्रतिपादक ग्रन्थ में अलंकार का औपचारिक प्रयोग होता है ।

6.3.5 भोजराज ने 'काव्यशोभाकरत्व' को अलंकार का सामान्य लक्षण मानते हुए उस शोभा के अभाव में किसी भी अलंकार का अस्तित्व नहीं माना । उन्होंने वक्रोक्ति, स्वाभावोक्ति और रसोक्ति जैसे तीन वर्गों में अलंकार का वर्गीकरण करके उपमा आदि अलंकारों के प्राधान्य में वक्रोक्ति, गुणप्राधान्य में स्वाभावोक्ति और विभावादि के संयोग से रस-निष्पत्ति में रसोक्ति माना ।

अलंकारवादियों की परम्परा में महिमभट्ट, केशवमिश्र, जयदेव और जगन्नाथ प्रभृति नाम लिए जा सकते हैं । महिमभट्ट ने अलंकारों को नये शब्दों में बांधने का प्रयास किया चारुत्वम् अलंकारः तथा 'शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलंकारः' अर्थात् अलंकार का आशय चारुत्व से है और शब्दार्थ की विच्छति को भी अलंकार कहा जाता है । केशवमिश्र ने पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति 'अलंकार शोभा के लिए हैं' कहा । जयदेव ने अलंकारों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि जिस प्रकार अग्नि की स्थिति ऊष्मा के बिना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य की स्थिति भी सम्भव नहीं हो सकती । जगन्नाथ के अनुसार अलंकार काव्य की आत्मा व्यंग्यार्थ में रमणीयता उत्पन्न कर देते हैं । अलंकार अप्रत्यक्ष रूप से शब्दार्थ के शोभाकारक बनकर रस का उत्कर्ष करते हैं ।

कुल मिलाकर अलंकारवादियों के अनुसार अलंकार के बिना काव्य, काव्य नहीं रहता क्योंकि अलंकार के बिना काव्य में शोभा एवं सौन्दर्य उत्पन्न नहीं हो सकते । वे काव्य से अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं । विषय वस्तु और अलंकार दोनों मिलकर काव्य बनता है । भामह ने कमनीय होने पर भी वनिता (स्त्री) के अनलंकृत आनन को असुन्दर कहकर

गुण से अधिक अलंकार को महत्व दिया । इनके समय में अलंकार अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति रूप था । दण्डी के समय में अलंकार ने शोभाकारक रूप में सन्धि-सन्ध्यंग, वृत्ति-वृत्त्यंग, लक्षण, गुण, रस आदि सभी शोभा सम्पादक धर्मों को आत्मसात् कर लिया । इस समय तक अलंकार का अंगित्व रूप स्पष्ट हो गया । वामन के 'सौन्दर्यमलंकारः' में इसकी प्रधानता बनी रही यद्यपि उन्होंने गुण-विशिष्ट पद रचना रूप काव्य की आत्मा में गुण के द्वारा उत्पन्न शोभा के उत्कर्षक को भी अलंकार मानकर ध्वनिकालीन अलंकार (अंग रूप) का भी संकेत कर दिया । दण्डी का अलंकार शोभाकारक था किन्तु वामन का अलंकार काव्य शोभातिशय का साधक हो गया । इसके पश्चात् ध्वनिकालीन अलंकार काव्य शोभातिशयी रूप में ही मान्य हुआ ।

6.4 ध्वनि काल में अलंकार

ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन तथा उनके अनुयायी अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ने ध्वनि को केन्द्र बिन्दु मानकर गुण, रीति, अलंकार आदि का विचार किया । अतः ध्वनि सम्प्रदाय के विचारकों ने अलंकार के पूर्ववर्ती अंगीकृत रूप और असाधारणत्व को अस्वीकृत कर दिया । उन्होंने बाह्य प्रसाधन कुण्डल आदि की तरह शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर के शोभातिशयी रूप में अलंकारों को मान्यता दी । पूर्व ध्वनि काल में अलंकार शोभाकारक था, अब वह शोभावर्द्धक हो गया । रसादि के उत्कर्ष रूप में ही अलंकार का महत्व ध्वनिवादियों ने स्वीकृत किया । बाद में चलकर अलंकारशास्त्र में प्रायः अलंकार का यही रूप मान्य हुआ ।

रसवादी आचार्यों की दृष्टि में अलंकार काव्य का अनियत तत्व है । वह शब्द और अर्थ के माध्यम से रस का कहीं उत्कर्ष करता है और कहीं नहीं करता । रसवादी मान्यता अलंकार को उतने ही रूप में काव्य में महत्वपूर्ण मानती है जहां तक वह ध्वन्यार्थ में कोई अन्तराल (बाधा) उत्पन्न न करे । इसीलिए ध्वनिकार **अभिनवगुप्त** ने कहा-

“रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्य क्रियो भवेत् ।

अपृथग्-यत्न निर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥”

अर्थात् अलंकार का महत्व रसाक्षेपी होना चाहिए और उसका प्रयोग साहजिक (नैसर्गिक) होना चाहिए, प्रयत्न साधक नहीं । उनके अनुसार अलंकार विषय वस्तु के अन्दर ही समाहित होते हैं । काव्य में अलंकार महत्वपूर्ण है या गुण । इन तत्त्वों के विषय में अभिनवगुप्त की मान्यता का उल्लेख उचित है । उन्होंने काव्य में स्वरूपगत सौन्दर्य का सम्बन्ध । अलंकार से और संघटनागत सौन्दर्य का सम्बन्ध गुण से माना । संघटना अर्थात् शब्दार्थ (विशेष प्रकार की शब्द योजना) की रचना । यों तो काव्य में प्रत्येक कोटि का सौन्दर्य अलंकार है किन्तु काव्य में विशेष प्रकार का सौन्दर्य जो शब्दगत होता है वही संघटना है ।

6.5 सारांश :-

रस सिद्धान्त के आचार्यों के मतानुसार-

- क) अलंकार काव्य के धर्म नहीं, शब्द और अर्थ के अस्थायी धर्म हैं ।
- ख) अलंकार काव्य के प्रधान तत्व रस की वृद्धि करते हैं ।
- ग) अलंकार काव्य में शोभा उत्पन्न नहीं करते, बल्कि शोभा की वृद्धि करते हैं । इनके अनुसार रस काव्य की वस्तु है ।

जबकि अलंकारवादियों के मतानुसार –

- अ) अलंकार के बिना काव्य, काव्य नहीं ।
- ब) अलंकार काव्य में शोभा उत्पन्न करते हैं ।
- स) अलंकार काव्य से अलग तत्व नहीं है । विषय वस्तु और अलंकार दोनों से मिलकर काव्य बनता है ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्य और भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार का महत्व भरतमुनि और दृश्यकाव्य की दृष्टि से नहीं, बल्कि श्रव्यकाव्य की दृष्टि से है । श्रव्यकाव्य में रस की अपेक्षा चारुता का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण माना गया है और चारुता के स्रोत पर काव्यशास्त्रियों ने विचार किया । चारुता अथवा सौन्दर्य काव्य के सन्दर्भ में व्यापक तत्व है । प्रारम्भ में आचार्यों ने श्रव्यकाव्य में रस की अपेक्षा व्यापक अर्थ रखने वाले सौन्दर्य के क्षेत्र को अधिक व्यापक रूप में स्वीकार किया । अलंकार एवं गुण को इस सौन्दर्य का आधायक तत्व माना । इन दोनों तत्वों की स्वीकृति के पीछे काव्य में अलंकरण की भावना ही मुख्यतः कारण मानी गयी क्योंकि कहा गया है कि 'अलंकारः एव काव्य प्रधानम्' ।

6.6 कठिन शब्द :-

1. श्रव्यकाव्य
2. सौन्दर्य
3. आत्मसात्
4. अंगीकृत
5. व्युत्पत्ति

6.7 अभ्यासार्थ प्रश्न :-

1. अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत भामह के सिद्धान्तों का परिचय दीजिए ।

2. वामन ने अलंकार सम्बन्धी कौन सी दो बातें बतलाई हैं ।

6.8 संदर्भ ग्रंथ

- (1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा
- (2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. सत्यदेव चौधरी
- (3) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र
- (4) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय
- (5) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र
- (6) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. बलदेव उपाध्याय

.....

रीति सम्प्रदाय : आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ

- 7.0 रूपरेखा
- 7.1 उद्देश्य
- 7.2 प्रस्तावना
- 7.3 रीति सम्प्रदाय
- 7.4 सारांश
- 7.5 कठिन शब्द
- 7.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 7.7 संदर्भ ग्रंथ

7.1 उद्देश्य :-

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- ◆ रीति सम्प्रदाय के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ◆ रीति सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों एवं उनकी स्थापनाओं से अवगत हो सकेंगे।

7.2 प्रस्तावना :-

रीति शब्द 'रीङ्' धातु में 'क्तिन्' या 'क्तिच्' प्रत्यय लगाकर बना है। इस प्रकार रीति शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ हुआ—मार्ग। कोशकार ने रीति के पर्याय रूप में पन्थ, वीथि, गति, प्रणाली, पद्धति, प्रस्थान आदि कई शब्द दिये हैं। पाणिनी के अनुसार रीति शब्द गत्यर्थक 'री' और श्रवणार्थक 'रीङ्' धातुओं में 'क्तिन्' अथवा 'क्तिच्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न किया जा सकता है। 'री' का अर्थ है— गति करना और 'रीङ्' का अर्थ है— सुनायी देना। अतः इन धातुओं के आधार पर रीति शब्द के क्रमशः दो अर्थ हुए— 'वह जो गतिशील हो' और 'वह जो सुनाई दे'। व्याकरण की दृष्टि से रीति के दो लक्षण हुए—गतिशीलता और श्राव्यता। प्रारम्भ में रीति का प्रयोग इसी अर्थ में होता रहा किन्तु कालान्तर में अर्थ विस्तार की प्रवृत्ति के अनुसार गति या मार्ग से 'काव्य गति' या 'काव्य मार्ग' का वह वाचक बन गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार रीति के प्रारम्भिक दो गुण गतिशीलता और श्राव्यता भी 'काव्य मार्ग' के साथ संक्रान्त

हो गये तथा सामान्य 'गति' से काव्यगत लय या प्रवाह एवं 'सुश्राव्यता' से रसानुरूप सुमधुर सुश्राव्य वर्ण- योजना में परिवर्तित होते गये लगते हैं । साहित्य के क्षेत्र में रीति का अर्थ कवि अथवा लेखक विशेष की विशिष्ट लेखन-शैली से होता है । कुल मिलाकर रीति के विशिष्ट अर्थ के अन्तर्गत विशिष्ट पद, रचना, शैली, काव्य परिपाटी तथा साहित्य में किसी विषय का वर्णन करने में वर्णों की वह योजना जिससे ओज, प्रसाद या माधुर्य गुण आता हो- आते हैं ।

7.3 रीति सम्प्रदाय :-

आचार्य वामन द्वारा काव्यात्मा रूप में प्रयुक्त किये जाने से बहुत पहले ही 'विशिष्ट पद 'रचना' रूप में रीति शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हो चुका था । रीति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में तीन स्थानों पर भिन्न अर्थ में स्तुति, शीघ्रगति, गमयिता (प्रेरक) प्रयुक्त हुआ है । पतंजलि ने महाभाष्य में रीति अर्थ में शैली शब्द का प्रयोग किया ।

7.3.1 भरतमुनि :-

भारतीय काव्य शास्त्र के आदि-प्रणेता **भरतमुनि** ने 'नाट्यशास्त्र' में 'प्रवृत्ति' संज्ञा से रीति का विवेचन किया है । नाना देशों के वेश, भाषा, आचार के समुच्चय को वे प्रवृत्ति कहते हैं । अतः प्रवृत्ति मूलतः भौगोलिक एवं जनपदीय आधारों पर निर्भर करती है । इस जनपदीय आधार पर उन्होंने प्रवृत्ति के चार भेद माने -

“आवन्ती दक्षिणात्य च पांचाली औड्रमागधी ।”

आवन्ती अर्थात् पश्चिमी, औड्रमागधी अर्थात् उड़ीसा, मगध एवं पूर्वी भारत की, दक्षिणात्य दक्षिण भारत की और पांचाली अर्थात् मध्यदेशीय । निस्संदेह भरत द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्तियों में पूर्ण जीवनचर्चा सिमट आती है । यद्यपि भरत को रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तक नहीं कहा जा सकता किन्तु इतना निर्विवाद है कि उन्होंने प्रवृत्ति का प्रतिपादन करके रीति सम्प्रदाय हेतु आधारभूमि तैयार की ।

7.3.2 बाणभट्ट ने भरत के प्रवृत्ति सम्बन्धी इस विवेचन का संकेत 'हर्षचरित' में लिया-

“श्लेष प्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।

उत्प्रेक्षा दक्षिणात्येषु गौडेष्वाक्षरडम्बरः ॥”

अर्थात् उत्तरी भू-भाग में श्लेष, पश्चिमी भू-भाग में अर्थ गौरव, दक्षिण में उत्प्रेक्षा और गौड़ (पूर्वी) प्रदेश में अक्षर आडम्बर की प्रधानता है । किन्तु बाणभट्ट ने इन शैलियों की ऐकान्तिक साधना को प्रश्रय नहीं दिया । उनके अनुसार नवीन अर्थ, अग्राम्य स्वाभावोक्ति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस, विकट अक्षरबन्ध आदि का एकत्र होना दुर्लभ अवश्य है, किन्तु प्रतिभा का धनी कवि इसे साध सकता है । बाणभट्ट की काव्य शैलियाँ रीति की आधुनिक अवधारणा के और अधिक निकट आ गयीं ।

7.3.3 भामह ने रीति के स्थान पर 'काव्य' या 'काव्य भेद' का प्रयोग किया । उन्होंने सर्वप्रथम वैदर्भी और गौड़ीय दो काव्य-शैलियों का प्रयोग रीतियों के रूप में किया । भामह का गौड़ मार्ग बाण की गौड़ीय शैली है और वैदर्भ मार्ग बाण की दक्षिणात्य शैली का ही दूसरा नाम है । भामह के अनुसार इन दोनों को अलग-अलग नहीं माना जाना चाहिए । दोनों मार्गों की विवेकसम्मत साधना उन्हें इष्ट है । उन्होंने काव्य के सामान्य गुणों-अलंकृति, अग्राम्यता, अर्थ

सौन्दर्य, लोकशास्त्र का आनुकूल्य, अनानुकूलता अर्थात् जटिलता के अभाव से युक्त काव्य को उत्कृष्ट कोटि का काव्य कहा। इस प्रकार उन्होंने रीतियों के विवेचन में उनकी प्रादेशिकता की स्थिति समाप्त की और उनकी रूढ़ वस्तुपरकता को समाप्त किया।

7.3.4 दण्डी ने भामह की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और पूरक विवेचन किया किन्तु मौलिक दृष्टि तो भामह की ही थी। दण्डी ने रीति रूप में 'वाणी' के अनेक रूप माने। इन सबमें से वैदर्भ और गौड़मार्ग को ही प्रशस्त मानते हैं। इसमें भी वैदर्भ मार्ग को अधिक उत्तम मानकर दस गुणों को इससे निबद्ध कर रीति को उसका प्राण माना। ये दस गुण हैं – श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि। इनमें भी तीन गुणों अर्थव्यक्ति (प्रस्फुटन शक्ति), औदार्य (उत्कर्ष) और समाधि अर्थात् एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु में सम्यक् रीति से आधान करने को काव्य के लिए अनिवार्य माना। एक ओर, भामह ने जहां रीति को व्यापक संदर्भ (अलंकार, गुण-दोषादि रूप) में ग्रहण किया दूसरी ओर, दण्डी ने उसे केवल वैदर्भ तक सीमित कर दिया।

7.3.5 वामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में ग्रहण किया। वे अकेले आचार्य हुए जिन्होंने रीति को आत्म-स्थानीय माना। वामन से पूर्व रीति की चर्चा बेशक हुई किन्तु कोई परिभाषा या लक्षण इसे लेकर निर्धारित नहीं हुए थे। इस क्षेत्र में पहल वामन ने की। उन्होंने रीति को पारिभाषित करते हुए कहा – 'विशिष्टा पद रचना रीतिः'। अर्थात् विशिष्ट प्रकार की पदरचना को रीति कहते हैं। उन्होंने 'विशिष्ट' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा – 'विशेषो गुणात्मक' अर्थात् विशिष्ट का आशय गुणों से युक्त है। गुणों की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा कि गुण शब्द और अर्थ के काव्य शोभाकारक धर्म होते हैं। इस प्रकार वामन की परिभाषा के अनुसार दो बातें सामने आयीं – एक तो यह कि रीति विशिष्ट पदरचना होती है और दूसरे वह शब्दगत और अर्थगत चमत्कार से युक्त होती है। अर्थात् 'शब्दगत और अर्थगत' चमत्कार से युक्त विशिष्ट पदरचना रीति होती है।

वामन ने गुणों को शब्दगुण और अर्थ गुण में बांटते हुए अर्थगुणों को शब्दगुणों की तुलना में श्रेष्ठ सिद्ध किया। उनके अर्थगुणों में रस, अलंकार आदि काव्य तत्व भी समाविष्ट हो जाते हैं। उनका महत्व इस संदर्भ में भी है कि उन्होंने 'रीति' शब्द को भौगोलिक ओर प्रादेशिक सीमाओं से मुक्त कर दिया। रीतियों का विभावन गुणों के आधार पर किया। पूर्व परंपरा से चली आ रही वैदर्भ और गौड़ के साथ तीसरी रीति पांचाली को जोड़ा। इनको स्पष्ट करते हुए विवेचना करते हैं कि गौड़ीय रीति केवल ओज और कान्ति गुणों से युक्त, समासों से युक्त उद्भट पदावली होती है। जबकि वैदर्भी रीति समस्त गुणों से युक्त होने के कारण सर्वश्रेष्ठ होती है। पांचाली अश्लिष्ट और शिथिल पदरचना होने के साथ-साथ माधुर्य और सौकुमार्य केवल इन्हीं दो गुणों से युक्त होती है।

7.3.6 रुद्रट ने 'लाटीया' नामक एक और रीति जोड़कर रीति संख्या चार तक पहुंचा दी। वैदर्भी और पांचाली को वे शृंगार, करुण, भयानक और अद्भुत रस में तथा लाटीया और गौड़ी को रौद्र रस में उचित मानते हैं।

7.3.7 आनन्दवर्द्धन ने रीति के लिए 'संघटना' शब्द प्रयुक्त किया। उनके अनुसार संघटना रसाश्रयी होती है इसलिए रीति या संघटना रसपूर्ण सौन्दर्य का साधन होती है। संघटना उनकी दृष्टि सम्यक् या यथोचित घटना-पदरचना संघटना या रीति है। यह संघटना तीन प्रकार की होती है –

**“असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता,
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ।।”**

अर्थात् संघटना तीन प्रकार की असमासा, मध्यसमासा और दीर्घसमासा होती है । आनन्दवर्द्धन की ये संघटनायें वामन की क्रमशः वैदर्भी, पांचाली और गौड़ीय रीतियाँ ही हैं । आनन्दवर्द्धन ने रीति-रूप संघटना को अंग संस्थानवत् ही माना है, आत्म-स्थानीय नहीं । उन्होंने यह भी कहा कि संघटना माधुर्य आदि गुणों के कारण विद्यमान रसों को अभिव्यक्त करती है । इस प्रकार संघटना के सम्बन्ध में तीन महत्वपूर्ण बातें देखी जा सकती हैं – एक, संघटना का मूलाधार समास होते हैं अर्थात् रीति का स्वरूप समासों के आकार और स्थिति पर निर्भर करता है । दो, रीति या संघटना गुणाश्रयी होती है । तीन, संघटना रस की अभिव्यक्ति का एक माध्यम होती है ।

7.3.8 राजशेखर ने ‘काव्य मीसांसा’ में रीति, प्रवृत्ति एवं वृत्ति-तीनों का अर्थ स्पष्ट किया । ‘वेष विन्यास क्रमः प्रवृत्तिः, विलास विन्यास क्रमो वृत्तिः, वचन विन्यास क्रमो रीतिः ।’ अर्थात् वेश-विन्यास को प्रवृत्ति, विलास-विन्यास को वृत्ति और वचन-विन्यास को रीति कहते हैं । राजशेखर की रीति विषयक यह परिभाषा वामन से भिन्न नहीं है, केवल शब्दों का अन्तर है । उनके द्वारा प्रयुक्त वचन का आशय वामन के शब्द या पद से और विन्यास-क्रम का अर्थ रचना है । उन्होंने रीति का वर्णन काव्यपुरुष के रूपक के प्रसंग में किया है और इसीलिए उन्होंने नयी शब्दावली यथा वचन, विन्यास क्रम का प्रयोग किया है ।

7.3.9 भोज ने रीति की व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा दी –

“वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।

रीड् गताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ।।”

अर्थात् वैदर्भ आदि पथ काव्य में मार्ग कहलाते हैं । रीड् एक गत्यार्थक धातु है, इससे व्युत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है । भोज ने दो रीतियाँ – आवन्तिका एवं मागधी जोड़ी । वैदर्भी और पांचाली के बीच की रीति का नाम आवन्तिका है । मागधी को वे खण्ड रीति कहते हैं अर्थात् रीति के लक्षणों का अनिर्वाह होने पर वह खण्ड रीति (मागधी) कहलाती है ।

7.3.10 कुन्तक ने रीति के लिए ‘कवि-प्रस्थान-हेतु’ शब्द का प्रयोग किया । गुणों के अतिरिक्त वे किसी अन्य तत्व को रीतियों की पारस्परिक उच्चावचता का निर्णायक आधार नहीं मानते । अतः उन्होंने रीति के भौगोलिक नामों का तिरस्कार कर ‘सुकुमार मार्ग’, ‘विचित्र मार्ग’, ‘मध्यम मार्ग’ नाम स्वीकार किये । ये तीनों मार्ग वस्तुतः कवि-स्वभाव के तीन पक्ष हैं जिन्हें उन्होंने पारिभाषिक शब्दावली में बांधने का प्रयत्न किया । इन तीनों मार्गों की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि सुकुमार मार्ग में भावों और रसों का एक नैसर्गिक सम्बन्ध बना रहता है जबकि विचित्र मार्ग में भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की अधिक महत्ता रहती है और मध्यम मार्ग में इन दोनों मार्गों का एक मिश्रित रूप होता है । इस प्रकार कुन्तक ने एक ओर जहां कवि स्वभाव को रीति का आधार निर्धारित करके उसे सीमित किया वहीं दूसरी ओर अपनी मौलिकता का परिचय दिया ।

7.3.11 मम्मट ने रीति शब्द का प्रयोग न करके 'वृत्ति' का प्रयोग किया । वृत्ति की परिभाषा देते हुए कहा –

“वृत्तिर्नियत वर्णगतो रस विषयो व्यापारः।”

अर्थात् रसानुकूल वर्ण-योजना ही वृत्ति है । उन्होंने उपनागरिका, परुषा, कोमला तीन वृत्तियाँ कहीं जो क्रमशः वामन निर्दिष्ट वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियाँ ही हैं । उन्होंने स्वयं कहा – “एतास्तिस्त्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी, गौड़ी, पांचल्याख्या रीतयोमताः ।” तथापि मम्मट ने वर्ण-व्यापार और गुणों के बीच अनिवार्य सम्बन्ध की स्थिति स्वीकार की है । इस सम्बन्ध में उन्होंने दो बातें कही – वृत्ति नियत वर्ण-व्यापार होती है और वर्ण-व्यापार के साथ गुण का अनिवार्य सम्बन्ध होता है । इस प्रकार वर्ण-व्यापार प्रत्येक गुण के अनुरूप होता है और उसी गुण से रीति अथवा वृत्ति का स्वरूप निर्धारित होता है । मम्मट के अनुसार वर्ण-व्यापार और वृत्ति या रीति दोनों का विनियमन गुणों द्वारा होता है और गुणों के माध्यम से ही रीति रसोत्कर्ष में सहायक होती है ।

7.3.12 विश्वनाथ रीति को पद-संघटना मानते हैं और उसे अंग-संस्थानवत् महत्व देते हैं। उनके अनुसार रीति रसादि की अभिव्यक्ति में साधन रूप है । उन्होंने रीति को शरीर की रचना के समान कहा अर्थात् जिस प्रकार शरीर का गठन अपनी प्रवृत्ति में बाह्य होते हुए भी आत्मा का उत्कर्ष करता है, उसी प्रकार रीति भी पदसंघटना रूप में काव्य का बाह्य तत्व होते हुए भी काव्य की आत्मा अर्थात् रस भावादि का उत्कर्षवर्द्धन करती है ।

रुद्रट की भाँति विश्वनाथ ने रीति (पद संघटना) के चार भेद माने- वैदर्भी, गौड़ीय, पांचली और लाटीया ।

7.4 सारांश :-

रीति सम्प्रदाय के विवेचन से स्पष्ट है कि –

- क. अधिकांश आचार्यों ने रीति को काव्यांश माना तथा उसे रसादि का उपकारक कहा ।
- ख. वामन रीति को काव्यांश न मानकर काव्यात्मा कहते हैं ।
- ग. कहीं-कहीं रीति को पद-रचना का वैशिष्ट्य न मानकर वाग्वैदग्ध का एक रूप माना गया है ।
- घ. प्रारम्भ में रीति शब्द काव्य-सौन्दर्य के पर्याय रूप में गृहीत हुआ फिर संकुचित होते-होते पद वैशिष्ट्य तक सीमित हो गया और पुनः व्यापक अर्थ में (शैली रूप में) समस्त काव्यांग या काव्यशास्त्र का वाचक बनता जा रहा है।

आज तो रीति के अन्तर्गत वृत्ति, प्रवृत्ति से आगे बढ़कर शैली की चर्चा होने लगी है अर्थात् शैली ही काव्य है। इस प्रकार रीति ही काव्यात्मन है । कुल मिलाकर वामन की विशिष्ट पद रचना ही रीति की सर्व स्वीकृत परिभाषा रही ।

7.5 कठिन शब्द :-

- | | | |
|--------------|--------------|------------|
| 1. प्रवृत्ति | 2. विशिष्ट | 3. स्वीकृत |
| 4. अन्तर्गत | 5. पारस्परिक | 6. जनपदीय |

7.6 अभ्यासार्थ प्रश्न :-

1. रीति सम्प्रदाय में भामह, भरतमुनि की स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए ।

2. वाणभट्ट, दण्डी की रीति सम्प्रदाय की स्थापनाओं को विवेचित कीजिए ।

3. रीति सम्प्रदाय से सम्बन्धित विभिन्न आचार्यों की स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए ।

7.7 संदर्भ ग्रंथ

- (1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा
- (2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. सत्यदेव चौधरी
- (3) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र
- (4) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय
- (5) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र
- (6) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. बलदेव उपाध्याय

ध्वनि सम्प्रदाय : आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ

- 8.0 रूपरेखा
- 8.1 उद्देश्य
- 8.2 प्रस्तावना
- 8.3 ध्वनि सम्प्रदाय
- 8.4 सारांश
- 8.5 कठिन शब्द
- 8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 8.7 संदर्भ ग्रंथ

8.1 उद्देश्य :-

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- ◆ ध्वनि सम्प्रदाय के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ◆ ध्वनि सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों एवं उनकी स्थापनाओं से अवगत हो सकेंगे।

8.2 प्रस्तावना :-

आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के मत में काव्य के आत्मा रूप ध्वनि का अति प्राचीन काल में भी व्यवहार मिलता है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार भरतमुनि ने रसादि तात्पर्य से इस ध्वन्यमान अर्थ का प्रतिपादन किया है। अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस ध्वनि रूप काव्य तत्व की व्याख्या करने में असमर्थ वामन आदि आचार्यों ने रीतियाँ प्रचलित की हैं। काव्य में अलंकार को ही अंगी मानने वाले भामह आदि आचार्यों ने ध्वन्यमान अर्थ के वर्णन में असमर्थ होकर ही पर्यायोक्त, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों में उसका अन्तर्भाव किया है तथा रसादि अर्थों को रसवत्, प्रेय, उर्जस्वी आदि अलंकारों में जोड़ा है। इस ध्वन्यमान अर्थ का अन्तर्भाव अलंकार आदि में किसी प्रकार नहीं हो सकता इसीलिए इस अर्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना अनिवार्य और समुचित है। इतना ही नहीं वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि महाकवियों ने अपनी रचनाओं में काव्य के सारभूत अतिरमणीय ध्वन्यार्थ का यत्र-तत्र निदर्शन किया है।

8.3 ध्वनि सम्प्रदाय :-

‘ध्वन्’ शब्दे’ धातु से कर्त्ता, कर्म, करण या अधिकरण में ‘इ’ प्रत्यय करने से निष्पन्न ध्वनि शब्द संस्कृत वाङ्मय में अति प्राचीन काल से प्रयुक्त होता रहा है । अथर्ववेद में ध्वनि शब्द लोक में प्रचलित ध्वनि शब्द के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है । पतंजलि ने ध्वनि को शब्द कहा । वैयाकरणों ने अर्थ प्रकाशक स्फोट को व्यंग्य माना और उस व्यंग्य स्फोट को व्यंजक शब्द को ध्वनि कहा है । व्युत्पत्ति की दृष्टि से ध्वनि के दो अर्थ होते हैं – एक, जिससे अर्थ स्फुटित होता हो तथा दो, जो वर्णों द्वारा प्रतिभासित होता हो । ध्वनिशास्त्र में ध्वनि के तीन प्रकार से अर्थ किये जाते हैं – पहला, ‘ध्वनतीति ध्वनिः’ अर्थात् जो व्यंग्यार्थ को प्रकाशित करे । दूसरा, ‘ध्वन्यते इति ध्वनिः’ अर्थात् व्यंजित होने वाला अर्थ । तीसरा, ‘ध्वननम् इति ध्वनिः’ अर्थात् शब्द और अर्थ का वह व्यापार जिससे व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती हो । इस प्रकार ध्वनि के पांच अर्थ किये जा सकते हैं – व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंजना व्यापार, व्यंग्य अर्थ और व्यंग्य प्रधान काव्य । ध्वनि शब्द अपने आप में बहुत व्यापक अवधारणा है । ‘ध्वनतीति ध्वनिः’ के अन्तर्गत शब्द और अर्थ दोनों आ जाते हैं । ‘ध्वन्यते इति ध्वनिः’ के अन्तर्गत रस और ‘ध्वननम् ध्वनिः’ में समूची व्यंजक प्रक्रिया आ जाती है । ध्वनि का पांचवां अर्थ इन सभी तत्त्वों का समूह अर्थात् काव्य है । इस प्रकार ध्वनि के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी तत्त्व आ जाते हैं । ध्वनि के इस स्वरूप को इस प्रकार समझा जा सकता है –

- क. जो ध्वनि करे अथवा कराये वह व्यंजक शब्द ध्वनि कहलाता है ।
ख. शब्द की भांति उसका अर्थ भी व्यंजक होता है । इसलिए व्यंजक अर्थ को ध्वनि कहा जाता है । ये दोनों कर्तृ प्रधान व्युत्पत्तियां हैं ।
ग. जो ध्वन्ति किया जाये वह भी ध्वनि है । ध्वनि की इस व्युत्पत्ति से त्रिविध अर्थात् (रस, अलंकार, वस्तु) व्यंग्यार्थ को भी ध्वनि माना जाता है । यह कर्म प्रधान व्युत्पत्ति है ।
घ. शब्द की जिस शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है उस शब्द-शक्ति को भी ध्वनि कहते हैं । ध्वनि की इस व्युत्पत्ति के आधर पर व्यंजना शक्ति भी ध्वनि कहलाती है । यह करण प्रधान व्युत्पत्ति है ।
ङ. वह काव्य भी ध्वनि कहलाता है जिसमें व्यंग्यार्थ प्रधान और चमत्कार युक्त होता है । यह अधिकरण प्रधान व्युत्पत्ति है ।

इस प्रकार व्यंजक शब्द और अर्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंग्य अर्थ को प्रकट करने वाली व्यंजना शक्ति एवं चमत्कार युक्त और प्रधान व्यंग्यार्थ युक्त काव्य को ध्वनि नाम से पुकारा जाता है । ध्वनि शब्द के ये पांचों व्याकरणिक अर्थ बाह्य रूप में भिन्न और अलग लगते हैं किन्तु व्यावहारिक रूप में एक-दूसरे से इतने सम्बद्ध हैं कि एक का उल्लेख करते समय दूसरे का अर्थ स्वतः ही ग्रहण हो जाता है । इसीलिए ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त के निरूपण में मुख्यतया ध्वनि की तीन व्युत्पत्तियों को ग्रहण किया है – व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली व्यंजना शक्ति, व्यंग्यार्थ और ध्वनि काव्य ।

ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्द्धन से पूर्व केवल भरतमुनि रसवादी आचार्य माने जाते हैं । शेष आचार्यों में से भामह, दण्डी और उद्भट अलंकारवादी थे और वामन रीतिवादी । जबकि रुद्रट आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती और आनन्दवर्द्धन के बीच एक योजक शृंखला के रूप में विद्यमान थे । काव्य के बाह्य रूप तक सीमित रस, भाव, अलंकार आदि की त्रुटियों को पहचानते हुए आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट किया ।

8.3.1 आनन्दवर्द्धन की ध्वनि विषयक मान्यता –

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत किये – ‘प्रतीयमानं पुनरन्यदेव. प्रतिमाभाविशेषम् ।’ अर्थात् प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु होती है जो सुन्दरियों के प्रसिद्ध शरीरांगों से भिन्न उनके लावण्य की तरह महाकवियों की वाणी में प्रतिभासित होती है । जिस प्रकार किसी कोमलांगना के सुन्दर अवयव और उनसे फूटता हुआ लावण्य एक पदार्थ नहीं है और जिस प्रकार दीप एवं उससे निस्सृत प्रकाश भी एक पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार शब्द तथा अर्थ और उनसे अभिव्यक्त ध्वनि (व्यंग्यार्थ) भी एक पदार्थ नहीं है । शब्द तथा अर्थ काव्य के बाह्य उपकरण मात्र हैं किन्तु ध्वनि तो अन्य अवर्णनीय पदार्थ है । अभिप्राय यह है कि—

“आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः ।

तदुपायतया तद्वद् अर्थं वाच्ये तदादृतः ॥”

अर्थात् जिस प्रकार दीप और प्रकाश में परस्पर साधन-साध्य भाव है, उसी प्रकार शब्दार्थ और ध्वनि में भी साधन-साध्य भाव है । यही कारण है कि कवि को शब्दार्थ रूप साधन की भी अपेक्षा होती है । किन्तु ध्यान देने की बात है कि अवयव समुदाय अथवा दीप को अपने साध्य की सिद्धि के लिये गौण नहीं बनना पड़ता, किन्तु ध्वनि की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब शब्द अपने अर्थ को तथा अर्थ अपने आप को गौण बना दे । स्वयं आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि का लक्षण इस प्रकार बताया –

“यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जजीकृतस्वार्थो ।

व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरितिसूरिभिः कथितः ॥”

अर्थात् यहां वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) अपने अस्तित्व को गौण बनाकर जिस विशिष्ट अर्थ (व्यंग्यार्थ) को प्रकट करते हैं वह अर्थ ध्वनि कहलाता है । इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यंग्यार्थ को ध्वनि माना है । प्रतीयमान अर्थ का स्वरूप निर्धारण करते हुए वे कहते हैं— (क) व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण (ख) स्वादु, (ग) चर्वणीय और (घ) प्रकाशमान होता है । आनन्दवर्द्धन के इस ध्वनि विश्लेषण से कुछ बातें सामने आती हैं –

1. ध्वनि (व्यंग्यार्थ) शब्दार्थ से विभिन्न तत्व है ।
2. ध्वनि लावण्य आदि के समान आन्तरिक तत्व है ।
3. शब्दार्थ आधार एवं साधन है जबकि ध्वनि आधेय एवं साध्य है । जिस प्रकार लावण्य हेतु कोमलांगना के अंगों की, प्रकाश हेतु दीपशिखा की जरूरत होती है उसी प्रकार ध्वनि के लिये शब्दार्थ (वाचक एवं वाच्य के समन्वित रूप) की अपेक्षा होती है ।
4. कुल मिलाकर वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ (विशिष्ट अर्थ) व्यंग्यार्थ या ध्वनि कहलाता है । इसके पर्याय रूप ध्वन्यार्थ, व्यंग्य, व्यंग्यार्थ, व्यंजित अर्थ, प्रतीत अर्थ, प्रतीयमान अर्थ, अवगमित अर्थ आदि हैं ।
5. इसी ध्वनि को आनन्द के साथ मम्मट, जगन्नाथ आदि ने काव्य की आत्मा स्वीकारा है ।

8.3.2 आनन्दवर्द्धन पूर्ववर्ती आचार्य –

आनन्दवर्द्धन से पूर्व ध्वनि सम्बन्धी परिकल्पना वस्तुतः ध्वनि विरोधी रूप में मुखरित हुई । ध्वनि विरोधी इन

परिकल्पनाओं को विभिन्न वादों यथा अभाववाद, लक्षणावाद, अलक्षणीयतावाद नाम से जाना जाता है । इन वादों का महत्व इस रूप में है कि आनन्दवर्द्धन ने प्रति उत्तर के माध्यम से इन वादों का विरोध करते हुए अन्ततः ध्वनि सिद्धान्त को अधिक परिपुष्ट किया ।

8.3.3 अभाववाद और सम्बन्धित आचार्य –

भामह, दण्डी और उद्भट प्रभृति अलंकारवादी आचार्य ध्वनि की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते । उनका कथन है कि अलंकार रीति, गुण आदि काव्य तत्त्वों की स्वीकृति में ध्वनि को मानना व्यर्थ है । अलंकार नामक तत्व की स्वीकृति किये जाने पर ध्वनि नामक तत्व की आवश्यकता ही नहीं है । उदाहरणार्थ भामह ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार के लक्षण में 'गुणसाम्य प्रतीति' अर्थात् गम्यमान औपम्य की चर्चा की । विशेषण-साम्य के बल पर अन्य अर्थ की गम्यता को उन्होंने समासोक्ति कहा तथा अन्य प्रकार के कथन विशेष को पर्यायोक्त कहा । इसी प्रकार दण्डी ने व्यतिरेक अलंकार का एक रूप माना जिसमें सादृश्य प्रतीयमान होता है और पर्यायोक्त के स्वरूप को प्रकारान्तर कथन पर आधृत माना । उद्भट पर्यायोक्त उसे कहते हैं जहां अभीष्ट विषय का अन्य प्रकार से कथन किया जाये । यह अन्य प्रकार वाच्य-वाचक वृत्ति अर्थात् अमिधा वृत्ति से शून्य अर्थ का अवगमन है । इसी प्रकार रुद्रट के रूपक, अपहृति, तुल्ययोगिता, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के लक्षणों में व्यंजना के बीज निहित हैं । उनके भाव अलंकार का एक प्रकार 'प्रधान व्यंग्य' है और दूसरा प्रकार 'अप्रधान व्यंग्य' । इस प्रकार अभाववादियों ने ध्वनि को अलंकारों में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया किन्तु आनन्दवर्द्धन ने इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बातें कहीं –

- क. अलंकार और ध्वनि में बहुत बड़ा अन्तर है । अलंकार शब्दार्थ पर आश्रित है किन्तु ध्वनि व्यंग्य- व्यंजक भाव पर निर्भर करती है । शब्दार्थ के चारुत्व हेतु अलंकार ध्वनि के अंगभूत है और ध्वनि उनका अंगी है ।
- ख. समासोक्ति, आक्षेप, दीपक, अपहृति, अनुक्तनिमित्तक विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति और संकट अलंकार के उदाहरणों में व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य की प्रधानता दिखाते हुए आनन्दवर्द्धन ने सिद्ध किया कि ध्वनि का अलंकार में अन्तर्भाव मानना युक्तिसंगत नहीं है । उनके अनुसार व्यंग्य रूप में अन्य अर्थ की प्रतीति होने पर भी ऐसे स्थलों पर व्यंजना न मानी जाकर समासोक्ति अलंकार की उपस्थिति मानी जाये ।
- ग. आनन्दवर्द्धन ने स्पष्ट किया कि जिस प्रकार दीपक, अपहृति आदि अलंकारों के उदाहरणों में उपमा अलंकार की व्यंग्य रूप से प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण वहां उपमा नाम से व्यवहार नहीं होता, इसी प्रकार समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण ध्वनि नाम से व्यवहार नहीं होता । फिर भी यदि पर्यायोक्त आदि अलंकारों के उदाहरण में कहीं व्यंग्य की प्रधानता हो तो उस अलंकार का अन्तर्भाव अंगीभूत ध्वनि में किया जायेगा, ध्वनि का अन्तर्भाव अंगभूत अलंकार में नहीं किया जायेगा । ध्वनि तो काव्य की आत्मा है, अलंकार्य है, अतः वह न तो अलंकार का स्वरूप धारण कर सकती है और न ही अलंकार में उसका अन्तर्भाव किया जा सकता है । इस प्रकार पर्यायोक्त प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी उसका प्रधान रूप से कथन नहीं होता । उनमें प्रधान चमत्कार तो अलंकार तत्त्व का ही रहता है, अतः इन्हें ध्वनि नहीं, अलंकार ही कहना चाहिए । वस्तुतः ध्वनि अंगी है और अलंकार, गुण, वृत्तियां उसके अंग हैं ।

8.3.4 लक्षणावाद और सम्बन्धित आचार्य :-

भट्टनायक और उद्भट जैसे आचार्य लक्षणावादी माने जाते हैं। इनके मत में व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में किया जाना चाहिए अतः लक्षणा शक्ति से अलग व्यंजना शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। ये आचार्य ध्वनि अर्थात् व्यंजना को भाक्त अर्थात् लक्षणागम्य मानते हैं 'भाक्तमाहुस्तदन्ये' स्थापना को लेकर आनन्दवर्द्धन ने निम्नांकित तर्क दिये हैं -

क. लक्षणा शक्ति तीन हेतुओं पर आधारित है- मुख्यार्थ बोध, मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति तथा रूढ़ि या प्रयोजन। उदाहरणार्थ 'गंगायां घोषः' में गंगा शब्द का लक्ष्यार्थ तट है किन्तु इसी आधार पर यहा व्यंग्यार्थ स्पष्ट नहीं होता। गंगा शब्द का वाच्यार्थ जल प्रवाह है। लक्ष्यार्थ है गंगातट और प्रयोजन है घोष अर्थात् जल की शीतलता और पवित्रता - यही वास्तव में व्यंग्यार्थ है कि गंगा के किनारे घर बनाने से उसकी शीतलता और पवित्रता बराबर प्राप्त होती रहती है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि स्वयं लक्षणा भी व्यंजना पर आधारित है अतः व्यंग्यार्थ को लक्ष्यार्थ में सीमित नहीं कर सकते।

ख. व्यंजना का अन्तर्भाव लक्षणा में इसलिए भी हो सकता है कि लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ से सम्बद्ध रहता है जबकि व्यंग्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ कभी नियत, कभी अनियत और कभी परम्परित सम्बन्ध रहता है।

ग. व्यंग्यार्थ की प्रतीति कहीं लक्ष्यार्थ के बाद होती है जैसे 'गंगायां घोषः', में और कहीं लक्ष्यार्थ के बिना वाच्यार्थ के बाद भी होती है जैसे वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि, रसध्वनि के उदाहरणों में और जहां वाच्यार्थ के बाद होती है वहां व्यंग्यार्थ से नितान्त भिन्न होता है। इस प्रकार व्यंजना का अन्तर्भाव लक्षणा में नहीं माना जा सकता।

8.3.5 अलक्षणीयतावाद :-

अलक्षणीयतावादी आचार्य ध्वनि को अलक्षणीय अथवा अनिर्वचनीय मानते हैं। उनके मत में ध्वनि एक आन्तरिक तत्व है अतः इसे वर्णन का विषय नहीं बनाया जा सकता। उनकी इस धारणा से भी ध्वनि की प्रतिष्ठा हुई। आनन्दवर्द्धन इस वर्ग के आचार्यों के उत्तर देते हुए कहते हैं कि जब उन्होंने (आनन्दवर्द्धन ने) इस तत्व (ध्वनि) का विवेचन कर दिया है तो फिर इसे अनाख्या या अनिर्वचनीय कहना युक्तिसंगत नहीं है। उनका मत है कि ध्वनि का चारुत्व किसी अन्य काव्य तत्व से प्रकाशित नहीं हो सकता।

8.3.6 आनन्दवर्द्धन परवर्ती आचार्य

आनन्दवर्द्धन पूर्ववर्ती आचार्यों के 'वाद' विशेष की भाँति परवर्ती आचार्यों के ध्वनि विषयक विचारों को विभिन्न 'वादों' की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

अभिधावाद :-

भट्टलोल्लट अभिधावादी आचार्य हैं जिन्होंने सम्पूर्ण अर्थ को अभिधागम्य माना, व्यंग्यार्थ नहीं 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् वक्ता को एक शब्द का जितना भी अर्थ अभीष्ट होता है, वह शब्द उतने ही अर्थ का वाचक होता है। उदाहरणार्थ गंगा पर घोष है। कथन में वक्ता को यदि कुटीर की पवित्रता या शीतलता बताना अभीष्ट हो तो यह अर्थ भी अभिधागम्य ही है। इसके लिए व्यंजना शक्ति की स्वीकृति व्यर्थ है। अभिधावादियों के इस तर्क के विरोध में

ध्वनिवादियों का मत है कि किसी वाक्य में जितना अर्थ प्राप्त होता है उतने को ही ग्रहण कर लिया जाता है । यह ग्रहण वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ का ही होता है अप्रयुक्त शब्दों के अर्थ का नहीं होता । जबकि व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है कि केवल प्रयुक्त अर्थात् उपात्त शब्दों से ही अर्थ-सम्बद्ध हो । वह अप्रयुक्त अर्थात् अनुपात्त शब्दों से भी प्रतीत हो सकता है । जैसे कि 'गंगा में घोष है' कथन में कोई भी शब्द शीतलता या पवित्रता का वाचक नहीं है फिर भी अनुपात्त शब्द से व्यंग्यार्थ शीतलता या पवित्रता का अर्थ प्राप्त हो रहा है ।

अभिधावादियों के अनुसार अभिधा शक्ति का व्यापार उसी प्रकार व्यापक और गहरा है जिस प्रकार किसी बलवान पुरुष द्वारा छोड़े हुए बाण का प्रभाव । जिस प्रकार वह बाण कवच, वक्ष और प्राणों का हरण करता है उसी प्रकार अभिधा का दीर्घ-दीर्घतर अर्थात् व्यापक और गहरा व्यापार भी वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थों का बोध कराने में सक्षम है किन्तु ध्वनिवादी इस मत को असंगत मानते हैं क्योंकि अभिधाजनित वाच्यार्थ का सम्बन्ध वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के साथ होता है, प्रतीयमान अर्थ के साथ नहीं । जैसे कि 'मित्र ! तुम्हारा पुत्र उत्पन्न हुआ है' वाक्य में प्रतीयमान अर्थ हर्षादि किसी भी शब्द का वाच्यार्थ नहीं है । दूसरे, यदि अभिधा ही तीनों अर्थों (वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ) की द्योतक है तो फिर लक्ष्यार्थ के लिए आचार्यों ने लक्षणा शक्ति की उद्भावना क्यों की होती ? और यदि लक्ष्यार्थ के लिए लक्षणा शक्ति स्वीकृत हो सकती है तो फिर व्यंग्यार्थ के लिए व्यंजना शक्ति को स्वीकार करने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

अभिधावादियों के अनुसार जिस प्रकार का निमित्त (कारण) होगा उसी प्रकार का नैमित्तिक (कार्य) होगा । व्यंग्यार्थ रूप नैमित्तिक का निमित्त शब्द के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकता । अतः शब्द बोधक या वाचक है और व्यंग्यार्थ बोध्य या वाच्य है । यह वाचक-वाच्य सम्बन्ध जब अभिधा द्वारा स्थापित हो जाता है तो व्यंजना की स्वीकृति अनावश्यक है । जबकि ध्वनिवादियों का इस मत के सन्दर्भ में तर्क है कि शब्द व्यंग्यार्थ का न तो कारक निमित्त बन सकता है और न ही ज्ञापक निमित्त । शब्द तो व्यंग्यार्थ का प्रकाशक है अतः 'कुम्भकार घट' इस कारण-कार्य सम्बन्ध में कुम्भकार के समान शब्द व्यंग्यार्थ का कारक निमित्त नहीं है । इसी प्रकार दीप-घट इस ज्ञापक-ज्ञाप्य सम्बन्ध में घट के समान व्यंग्यार्थ का अस्तित्व पूर्व विद्यमान नहीं रहता । इसी के साथ अभिधा द्वारा अर्थ बोध परस्पर अन्वित पदों के संकेत से ही होता है, किन्तु व्यंग्यार्थ कभी संकेतित नहीं होता । इस प्रकार शब्द कारण रूप में घटित नहीं होता इसलिए व्यंग्यार्थ को उसका कार्य मानना उचित नहीं । स्पष्ट है कि अभिधा द्वारा व्यंग्यार्थ की गम्यता ध्वनिवादी स्वीकृत नहीं करते ।

अभिधावादी मान्यता के अनुसार अभिधा केवल पदार्थ का सामान्य ज्ञानमात्र करा के लुप्त नहीं हो जाती, बल्कि वाक्य के अन्वितार्थ का विशेष ज्ञान कराती है अतः विशेष ज्ञान के अन्तर्गत व्यंग्यार्थ के भी सम्मिलित हो जाने के कारण व्यंजना को स्वीकार नहीं करना चाहिए । इस सम्बन्ध में व्यंजनावादियों (ध्वनिवादियों) की मान्यता है कि व्यंग्यार्थ वाक्य का अन्वितार्थ नहीं होता । दूसरे, वह विशेष से भी बढ़कर अति विशेष होता है और कहीं तो वाच्यार्थ से विपरीत भी होता है अतः अभिधा द्वारा इसका बोध सम्भव नहीं है ।

तात्पर्यवाद :-

धनंजय एवं धनिक आचार्य तात्पर्य वृत्ति में व्यंजना का अन्तर्भाव मानते हैं । धनंजय के अनुसार जिस प्रकार 'द्वार

द्वार' कहने से वक्ता की अश्रूयमाण क्रिया खोलो या बन्द करो का ज्ञान प्रकरणादि वश वाक्यार्थ अर्थात् तात्पर्यार्थ वृत्ति द्वारा हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि युक्त काव्य में स्थापित भाव का ज्ञान भी काव्य के वाक्यार्थ अर्थात् तात्पर्यार्थ से ही हो जाता है । इसके लिए अलग व्यंजना वृत्ति मानने की जरूरत नहीं है । धनिक ने धनंजय के उपरोक्त अभिप्राय को थोड़ा तीव्र रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा कि जिस प्रकार कोई भी लौकिक वाक्य, वक्ता की अभिप्रेत विवक्षा (तात्पर्य) पर आश्रित रहता है उसी प्रकार काव्य भी कवि के तात्पर्य पर निर्भर होता है । किन्तु ध्वनिवादी आचार्य तात्पर्यवाद की इस मान्यता को स्वीकृत नहीं करते क्योंकि उनके अनुसार तात्पर्य नामक वृत्ति पदों के अन्वितार्थ का बोध करा चुकने के बाद जब विश्रान्त हो जाती है तो व्यंग्यार्थ बोध हेतु व्यंजना शक्ति की आवश्यकता पड़ती है । तात्पर्यवादी वाक्यार्थ मात्र से आगे प्रतीयमान अर्थ हेतु तात्पर्य वृत्ति स्वीकृत करते हैं जबकि ध्वनिवादी व्यंजना शक्ति अनिवार्य मानते हैं ।

अनुमानवाद :-

महिमभट्ट ने सम्पूर्ण व्यंजना व्यापार (ध्वनि) को अनुमान में अन्तर्भूत किया । उनके मतानुसार व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से ही सम्बद्ध रहता है । यदि वह वाच्यार्थ से सम्बद्ध न हो तो किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा । अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए वे अनुमान तत्व को अभीष्ट मानते हैं । उदाहरणार्थ किसी धार्मिक व्यक्ति से किसी व्यभिचारिणी स्त्री का यह कथन कि 'अब इस कुंज में निर्भय होकर भ्रमण करो क्योंकि यहां के सिंह ने कुत्ते को मार डाला है' वाच्यार्थ रूप में विधि वाक्य प्रतीत होता हुआ भी व्यंग्यार्थ रूप में निषेध वाक्य है कि यहां मत घूमा करो । महिमभट्ट के अनुसार यह निषेधार्थ अनुमानगम्य है न कि व्यंजनागम्य । अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी – यह स्थान सिंह युक्त होने के कारण धार्मिक व्यक्ति के लिए नहीं है – साध्य । कुत्ते के लौट जाने पर ही वह व्यक्ति भ्रमण कर सकता है-हेतु । किसी भी अन्य भीरु व्यक्ति के समान-दृष्टान्त । किन्तु ध्वनिवादी इस निषेध रूप को अनुमान का विषय नहीं मानते । अनुमान की व्याप्ति निश्चित हेतु से ही सम्भव है जबकि ध्वनि काव्य कवि-कल्पनाश्रित होने के कारण अनिश्चित हेतु से भी युक्त होता है । महिमभट्ट का यह दृष्टान्त कि 'जहां-जहां भीरु का भ्रमण नहीं होगा वहां-वहां भय का कारण अवश्य होगा' असंगत है क्योंकि भीरु लोग भी भययुक्त स्थान पर गुरु की कठोर आज्ञा या प्रिया के अनुराग अथवा अन्य कारण से वहां भ्रमण करते हुए देखे जा सकते हैं अतः यहां निश्चित हेतु न होकर अनिश्चित हेत्वाभास है । इसके अतिरिक्त यह अनुमान प्रक्रिया विरुद्ध और असिद्ध नामक दो अन्य हेत्वाभासों के कारण भी युक्ति-संगत नहीं है – वह धार्मिक व्यक्ति कुत्ते की अपवित्रता के कारण उससे भयभीत होकर वहां भ्रमण नहीं कर सकता किन्तु वीर व्यक्ति सिंह से भयभीत न होकर और शिकार से प्रेरित होकर वहां भ्रमण कर सकता है यह विरुद्ध हेत्वाभास है । दूसरे, वहां सिंह है या नहीं यह न तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है न ही अनुमान प्रमाण द्वारा । प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी यह सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि सिंह के विषय में बताने वाली स्त्री सामान्य है या व्यभिचारिणी यह सिद्ध नहीं होने के कारण हेत्वाभास है । इन सब कारणों से व्यंजना शक्ति को अनुमानगम्य मानना संगत नहीं ।

8.4 सारांश :-

इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के केन्द्र में आनन्दवर्धन उद्भावक एवं प्रतिष्ठापक के रूप में सामने आते हैं जिन्होंने

न केवल ध्वनि की प्रतिष्ठा की अपितु ध्वनिविरोधी वादो, मतों, आचार्यों के कथनों का निःशेष करते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया ।

8.5 कठिन शब्द :-

- | | | | |
|-------------|--------------|-----------------|----------------|
| 1. भययुक्त | 2. प्रत्यक्ष | 3. व्यंजनाशक्ति | 4. प्रतिष्ठापक |
| 5. अनिश्चित | 6. प्रक्रिया | 7. दृष्टान्त | 8. अभिव्यक्ति |

8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न :-

1. ध्वनि सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों की स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए ।

2. आनन्दवर्धन की ध्वनि विषयक मान्यता पर प्रकाश डालिए ।

3. तात्पर्यवाद और अनुमानवाद विषयक विभिन्न आचार्यों की स्थापनाओं को विवेचित कीजिए ।

8.7 संदर्भ ग्रंथ

- (1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा

- (2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. सत्यदेव चौधरी
- (3) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र
- (4) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय
- (5) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र
- (6) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. बलदेव उपाध्याय

.....

वक्रोक्ति सम्प्रदाय : प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ

- 9.0 रूपरेखा
- 9.1 उद्देश्य
- 9.2 प्रस्तावना
- 9.3 वक्रोक्ति सम्प्रदाय: प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ
 - 9.3.1 कुन्तक पूर्व वक्रोक्ति : आचार्य एवं स्थापनाएँ
 - 9.3.2 कुन्तक और उनका युग
 - 9.3.3 कुन्तक परवर्ती वक्रोक्ति
- 9.4 सारांश
- 9.5 कठिन शब्द
- 9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 9.7 संदर्भ ग्रंथ

9.1 उद्देश्य :-

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- ◆ वक्रोक्ति सम्प्रदाय के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ◆ वक्रोक्ति सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों एवं उनकी स्थापनाओं से अवगत हो सकेंगे।

9.2 प्रस्तावना :-

अथर्ववेद में वक्र तथा वक्रा शब्द का प्रयोग 'कुटिल' अर्थ में हुआ है। कालिदास के 'वक्रः पन्था' का अर्थ 'टेढ़ा' है। इस प्रकार वक्रा + उक्तिः = वक्रोक्तिः का अर्थ हुआ 'टेढ़ी उक्ति'। बाणभट्ट ने वाक्छल, क्रीड़ापाल,

परिहास-कल्पित आदि अर्थों में वक्रोक्ति का प्रयोग किया है । इन अर्थों के अतिरिक्त चमत्कारपूर्ण शैली, वचनविदग्धता आदि अर्थों में भी बाण का वक्रोक्ति प्रयोग मिलता है । भामह ने लोकातिकान्तगोचर रूप अतिशयोक्ति के अर्थ में वक्रोक्ति का व्यवहार किया है ।

इन पूर्ववर्णित अर्थों को सुस्पष्ट करते हुए वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक ने 'वैदग्ध 1-भंगी-भणिति' को ही वक्रोक्ति कहा । वैदग्ध = चतुरता अर्थात् एक बात को सुन्दर ढंग से कहने का सामर्थ्य । भंगी = एक प्रकार का वैचित्र्य, चमत्कार । भणिति = कथन । इस प्रकार वैदग्ध भंगी भणिति का अर्थ हुआ चतुरता और विचित्रता से युक्त जो कथन है वही वक्रोक्ति है । वक्रोक्ति एक सम्प्रदाय है, काव्य का एक सिद्धान्त है, एक रमणीय काव्य का मूल स्रोत है और काव्य का जीवित है इसीलिए उनके काव्य सिद्धान्त का नाम 'वक्रोक्ति-काव्यजीवितम्' है । कुन्तक ने वक्रोक्ति के लिए कहा - 'वक्र अभिधा' अर्थात् कुटिल उक्ति ।

9.3 वक्रोक्ति सम्प्रदाय : प्रमुख आचार्य एवं उनकी स्थापनाएँ

वक्रोक्ति के व्यवस्थित विवेचन का आरम्भ भामह से होता है, किन्तु उसके बीज सुबन्धु और बाण में मिलते हैं । बाण की 'कादम्बरी' में वक्रोक्ति शब्द का स्पष्ट रूपेण प्रथम उल्लेख उज्जयिनी वर्णन के प्रसंग में हुआ है । अभिनवगुप्त के साक्ष्यानुसार जिसे भरत ने लक्षण कहा है उसी को भामह वक्रोक्ति कहते हैं । हालांकि भामह से पूर्व भारतीय काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का विभाजन नहीं मिलता लेकिन भरत के लक्षण में इसका स्रोत देखा जा सकता है । अतः जिस वक्रोक्ति के आचार्य बाद में भामह और कुन्तक हुए, उसके आदि आचार्य भरत ही हैं ।

वक्रोक्ति विषयक विवेचन को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं-कुन्तक पूर्व वक्रोक्ति, कुन्तक युगीन और कुन्तक परवर्ती वक्रोक्ति ।

9.3.1 कुन्तक पूर्व वक्रोक्ति : आचार्य एवं स्थापनाएँ :-

भामह के 'काव्यालंकार' में वक्रोक्ति का व्यापक एवं व्यवस्थित विवेचन काव्यशास्त्रीय परम्परा में सर्वप्रथम मिलता है । उन्होंने वक्रोक्ति में शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता का समावेश माना है । केवल 'नितान्त' आदि शब्दों के प्रयोग (ऋजुक्ति) से काव्य में सौन्दर्य नहीं आता । अर्थात् 'नितान्त सुन्दर, नितान्त सुन्दर' कहने से कोई सौन्दर्य नहीं होगा । काव्य सौन्दर्य हेतु शब्दगत और अर्थगत वक्रता ज़रूरी है । इन उपादानों से तो आभूषण, उपवन और मालायें अलंकृत होती हैं, वाणी को अलंकृत करने का सामर्थ्य तो शब्द और अर्थ की वक्रता में है । अतः भामह के अनुसार कवि को इन बाह्य उपादानों के संचयन में व्यस्त न होकर काव्य के निष्पादक उस आंतरिक तत्व (वक्रोक्ति) पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए । 'वक्राभिधेय शब्दोक्तिः' एवं 'वक्रार्थ शब्दोक्तिः' का अर्थ एक ही है । इस प्रकार भामह के अनुसार शब्दवक्रता और अर्थवक्रता का समन्वित रूप ही वक्रोक्ति है । यह वक्रोक्ति ही वाणी का वांछित अलंकार है ।

भामह ने अतिशयोक्ति के स्वरूप वर्णन द्वारा वक्रता का आशय स्पष्ट किया । अतिशयोक्ति के विषय में उनका मत है कि किसी कारणवश लोकोत्तर अर्थ का बोधक जो वचन है उसे अतिशयोक्ति अलंकार कहते हैं । यह सम्पूर्ण अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है । इससे अर्थ में रमणीयता आ जाती है ।

“सैषा सैर्वव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यत्नोअस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥”

वक्रोक्ति का साम्राज्य सार्वभौमिक है – ‘कोऽलंकारोऽनया विना ।’ भामह ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में सिद्ध किया कि वक्रोक्ति सारी अलंकार पद्धति का मूलाधार है ।

भामह ने वक्रोक्ति के अभाव को ‘वार्ता’ । हीन उक्ति को उन्होंने वार्ता का नाम दिया— ‘सूर्य अस्त हो गया है । चन्द्रमा चमक रहा है’ जैसी उक्तियाँ काव्य नहीं वरन् वार्ता हैं क्योंकि काव्य के लिए वक्रोक्ति का होना ज़रूरी है जिसका यहाँ नितांत अभाव है । वक्रोक्तिरहित चमत्कारविहीन उक्ति को ही वे वार्ता कहते हैं । वस्तुतः वक्रोक्ति अलंकार का ही चमत्कार है । जहाँ शब्द और अर्थ की वक्रता नहीं है वहाँ अलंकार भी कोई महत्व नहीं रखते । इस प्रकार भामह ने वक्रोक्ति के सम्बन्ध में तीन महत्वपूर्ण बातें कहीं एक, वक्रोक्ति की मूलभूत विशेषता शब्द और अर्थ का वैचित्र्य वक्रता है । दो, वक्रोक्ति प्रयोग से अर्थ का विचित्र रूप से भावन होता है । तीन, वक्रोक्ति सभी अलंकारों का मूल है, इसके बिना काव्य में अलंकारत्व की स्थिति हो ही नहीं सकती । इस प्रकार वक्रोक्ति के व्यापक विवेचन का प्रथम सुष्ठु रूप भामह में मिलता है ।

दण्डी में आकर स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति का स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है । उन्होंने सम्पूर्ण वाग्मय को वक्रोक्ति और स्वाभावोक्ति—दो भागों में बाँटा ।

‘भिन्नद्रिधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्’

भामह की भाँति दण्डी ने भी अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का आधार माना है, किन्तु दोनों के वक्रोक्ति सम्बन्धी चिन्तन में अन्तर यह है कि भामह स्वाभावोक्ति को भी वक्रोक्ति के व्यापक आधार में समेट लेते हैं और इस प्रकार वक्रोक्ति की एकछत्र प्रभुता सिद्ध कर देते हैं । जबकि दण्डी वक्रोक्ति के अतिरिक्त स्वाभावोक्ति की सत्ता भी स्वीकार करते हैं । दूसरी बात यह है कि दण्डी वक्रोक्ति में श्लेष के योग से चारुता में वृद्धि कह कर वक्रोक्ति को थोड़ा संकीर्ण कर देते हैं । क्योंकि सभी प्रकार की वक्रोक्तियों में श्लेष का योग नहीं होता ।

“श्लेषः सर्वासु पुष्पाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।”

दण्डी ने सम्पूर्ण साहित्य के वक्रोक्ति और स्वाभावोक्ति जो दो भेद माने, बाद में इसी वर्गीकरण से प्रेरणा ग्रहण करके भोज ने इसमें ‘रसोक्ति’ को जोड़ दिया ।

वामन के अनुसार वक्रोक्ति का क्षेत्र ‘सादृश्याश्रित लक्षणा’ तक ही सीमित है । अलंकार विशेष के रूप में वक्रोक्ति की पहली स्थापना आचार्य वामन में हुई । वामन रुद्रट से इस मायने में भिन्न हैं कि उन्होंने रुद्रट की भाँति इसे शब्द—अलंकार न मानकर अर्थालंकार ही माना है और इसे सादृश्यमूलक अर्थालंकार उपमा के समान ही उपस्थित करते हैं — ‘सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः’ । उनकी ‘विशिष्टपदरचना रीतिः’ में विशिष्टता वक्रता से नितान्त भिन्न नहीं है । उनके शब्दों में विशेष का अर्थ है गुणात्मा और उनके अनेक शब्द तथा अर्थ गुणों में वक्रोक्ति के अनेक रूपों का स्पष्ट अन्तर्भाव है । उदाहरणार्थ— ओज, श्लेष, उदारता, कात्ति आदि अनेक शब्द—गुणों में कुन्तक ही वर्ण—विन्यास

वक्रता का अन्तर्भाव है । वामन ने अपने ढंग से वक्रता के अनेक रूपों का वर्णन किया है । केवल वक्रता या वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया ।

वामन के पश्चात् **रुद्रट** ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने वक्रोक्ति का क्षेत्र और अधिक संकुचित करके इसे केवल शब्दालंकार तक सीमित कर दिया । रुद्रट से ही वक्रोक्ति अलंकार के दो भेदों का प्रारम्भ होता है –श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति । काकु वक्रोक्ति में उच्चारण और स्वरों के उतार-चढ़ाव से उक्ति में वक्रता उत्पन्न की जाती है जबकि श्लेष वक्रोक्ति में यह कार्य श्लेष की सहायता से किया जाता है । इस विवेचन से परवर्ती आचार्य रुय्यक मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित आदि आलंकारिक प्रभावित और ग्रसित हुए ।

आनन्दवर्द्धन ने वक्रोक्ति सम्बन्धी भामह की मान्यताओं को ही सुदृढ़ आधार प्रदान किया । भामह की भौति वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्याय स्वीकृत किया । उन्होंने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति का सफल प्रयोग कुशल कवि के हाथों ही सम्भव माना । साथ ही इनके प्रयोग को प्रसंगानुकूल स्वीकार किया अर्थात् औचित्य का ध्यान रखने की बात कही ।

9.3.2 कुन्तक और उनका युग :-

भामह के वक्रोक्ति विषयक विवेचन की चरम परिणति कुन्तक में हुई । उन्होंने वक्रोक्ति को 'वैदग्धभंगीभणिति' कहा । यह प्रसिद्ध अभिधान का अतिक्रमण करने वाली विचित्र अभिधा ही है । वे अपने वैचित्र्य की व्याख्या भामह की अतिशयोक्ति के पर्याय रूप में करते हैं । उनके लिए काव्य अलंकृत शब्द और अर्थ के अलावा और कुछ है ही नहीं और इसका एकमात्र अलंकार वक्रोक्ति है । यह वक्रता कवि-व्यापार की देन है एवं वर्ण, पदपूर्वाद्ध, पदपराध, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध वक्रता नामक इसके छः भेद हैं ।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' सिद्ध करते हुए वक्रोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है – 'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा, अर्थात् प्रसिद्ध उक्ति से भिन्न वर्णन शैली को वक्रोक्ति कहते हैं । कुन्तक के अनुसार 'विचित्र' का अर्थ है प्रसिद्ध कथन पद्धति से भिन्न कथन पद्धति का प्रयोग करना । उन्होंने 'प्रसिद्ध' का अर्थ भी स्पष्ट किया । प्रसिद्ध का आशय है शास्त्र और व्यवहार में प्रयुक्त शैली । इस प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति का अर्थ हुआ-प्रसिद्ध कथन पद्धति से भिन्न विचित्र कथन शैली और विचित्र का तात्पर्य वैदग्धजन्य चारुता के विवेचन का सूक्ष्म निरीक्षण कर कुछ महत्वपूर्ण पहलू सामने आते हैं-

क. वक्रोक्ति को सामान्य कथन शैली से भिन्न माना ।

ख. यह विचित्र उक्ति लोक या शास्त्र में प्रयुक्त शब्दार्थ प्रयोग से भिन्न ढंग की होती है ।

ग. इस विचित्र उक्ति हेतु कवि-प्रतिभा की आवश्यकता होती है ।

घ. यह सहृदय को आह्लादित करने वाली होती है ।

कुन्तक ने 'प्रसिद्धमार्गम्' के द्वारा तीन बातें कहीं ।

क. प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी-अर्थात् एक बात को कहने का जो पुराना घिसा-पिटा तरीका है उसका उल्लंघन करने वाला साधन वक्रोक्ति है ।

ख. अतिक्रान्त व्यवहार सरणि—अर्थात् एक बात की अभिव्यक्ति हेतु जो मार्ग है उसका उल्लंघन नहीं करने वाली शैली वक्रोक्ति है ।

ग. प्रसिद्ध प्रस्थान शब्दार्थोयनिबन्ध व्यतिरेकी—अर्थात् पुराने समय से शब्द और अर्थ को आपस में बाँधकर एक बात को जिस तरीके से व्यक्त करते आए हैं, उसका उल्लंघन करना वक्रोक्ति है ।

इन तीनों के रूप में वक्रोक्तिकार ने 'लोकातिक्रान्तगोचरवचनावली' के माध्यम से आलौकिक विच्छति (चमत्कार) से परिपूर्ण शब्दार्थ युगल को वक्रोक्ति माना है । इसी वक्रोक्ति का एक स्थल पर परिचय देते हुए वे उसे विचित्र अभिधा कहते हैं । कुल मिलाकर काव्य के जीवित (आत्मा) के रूप में वक्रोक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा कुन्तक में हुई । जिन्होंने इसे सौन्दर्यशास्त्रीय आधार प्रदान किया ।

अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति को सामान्य अलंकार माना । शब्द और अर्थ की वक्रता का आशय उनका लोकोत्तर रूप से अवस्थित होता है और लोकोत्तर का अतिशयता । इस प्रकार अभिनव के अनुसार अतिशयोक्ति एक सामान्य अलंकार हुआ और चूँकि अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति पर्याय है इसीलिए वक्रोक्ति सामान्य अलंकार है । उनका मत है कि सम्पूर्ण अलंकार वर्ग के बीजभूत चमत्कार कथा—शरीर को वैचित्र्य देने वाले वक्रोक्ति रूप लक्षण शब्द से कहे जाते हैं । इस प्रकार लक्षण ही वक्रोक्ति है । अभिनव के लक्षण में कुन्तक की वक्रोक्ति विषयक उद्भावना देखी जा सकती है । इसके अतिरिक्त अभिनव के लक्षण की शोभा का मूल कारण कवि—व्यापार की जो विशिष्टता है, वही कुन्तक की वैदग्ध्यमंगीमणिति है ।

भोज सम्पूर्ण अभिव्यंजना को अलंकार कहना पसन्द करते हैं तथापि वे वक्रोक्ति को उपमा आदि अलंकारों में सीमित कर देते हैं । उन्होंने दण्डी की भाँति वांगमय को तीन भागों में बाँटा —स्वाभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति । जहाँ उपमादि अलंकारों का प्राधान्य होता है वहाँ वक्रोक्ति होती है । जहाँ गुणों का प्राधान्य होता है वहाँ स्वाभावोक्ति और जहाँ विभावों, अनुभावों, संचारी भावों के योग से रस निष्पत्ति होती है वहाँ रसोक्ति होती है । भोजराज में वक्रोक्ति के तीन अर्थ मिलते हैं — पहला अर्थ अलंकार सामान्य है जो काव्य की आत्मा है । दूसरा औपम्यगर्भ अलंकारों के अर्थ में है और तीसरा वाकोवाक्य नामक शब्दालंकार के उपभेदों में से एक अलंकार विशेष है । भोज में वक्रोक्ति विषयक सभी मतों का समाहार मिलता है । हम कह सकते हैं कि कुन्तक, अभिनवगुप्त और भोज का काल वक्रोक्ति का उत्कर्ष काल है । किन्तु इसके पश्चात् वक्रोक्ति सिद्धान्त की महत्ता क्षीण होने लगती है ।

9.3.3 कुन्तक परवर्ती वक्रोक्ति

परवर्तीकाल में वक्रोक्ति अलंकार विशेष के सीमित अर्थ में संकुचित होती गयी । मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इसे शब्दालंकार माना । रुय्यक, विद्याधार, विद्यानाथ आदि ने उसे अर्थालंकार कहा । यहाँ तक कि महिमभट्ट ने वक्रोक्ति को स्वीकृत ही नहीं किया । जबकि **मम्मट** ने रुद्रट के मत को सम्पूर्णतः रुद्रट स्वीकारते हुए भंग—श्लेष और काकु वक्रोक्ति—दोनों भेदों का 'काव्यप्रकाश' में उल्लेख किया है । उन्होंने रुद्रट के भंगश्लेष में अभंगश्लेष की भी उद्भावना कर दी । जिसका बाद में हेमचन्द्र ने भी अनुसरण किया । यहीं से वक्रोक्ति की संकीर्णता स्थापित हो जाती है और काव्य की आत्मा के रूप में वह अपनी प्रतिष्ठा खो देती है । मम्मट वक्रोक्ति को पारिभाषित करते हुए कहते हैं 'अन्य

प्रकार से कहा हुआ वाक्य दूसरे के द्वारा श्लेष अथवा काकु से, अन्य प्रकार से लगा लिया जाता है, वह वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार होता है । वह श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति दो तरह का होता है । अलंकार विशेष के रूप में वक्रोक्ति की चर्चा करते हुए रुय्यक ने लिखा है कि अन्य अर्थ में प्रयुक्त उक्ति की श्लेष अथवा काकु द्वारा अन्य अर्थ में योजना वक्रोक्ति कहलाती है । जो वाक्य किसी के द्वारा अन्य अभिप्राय से कहा गया हो, दूसरे वक्ता द्वारा श्लेष अथवा काकु के सहारे अन्य अर्थ में घटित कर देना ही वक्रोक्ति है । स्पष्ट है कि रुय्यक यहाँ पूर्ववर्ती परम्परा का अनुसरण कर रहे हैं ।

9.4 सारांश :-

वक्रोक्ति सम्प्रदाय में वास्तविक स्थिति यह है कि कुन्तक के पश्चात् कोई रेखांकित करने वाला आचार्य नहीं हुआ । जैसे वाग्भट, हेमचन्द्र, जयदेव, विद्याधर, विश्वनाथ, केशव मिश्र, जगन्नाथ आदि नाम गिने जा सकते हैं किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि इन विद्वानों ने वक्रोक्ति के एक भाग विशेष यथा समंग श्लेष, अभंग श्लेष, काकु वक्रोक्ति आदि का ही संकेत करके वक्रोक्ति विषयक चिन्तन को संकीर्ण ही बनाया है । इस प्रकार निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि वक्रोक्ति को एक सम्प्रदाय और सिद्धान्त रूप में सार्वभौम रूप कुन्तक ने ही प्रदान किया । किन्तु बड़ी विचित्र विडम्बना है कि भारतीय काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय का जो विचित्र अधोपतन हुआ वह अन्य किसी सम्प्रदाय में नहीं देखा जाता । इस प्रकार वक्रोक्ति एक सामान्य शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में ही अवशिष्ट रही ।

9.5 कठिन शब्द :-

- | | | | |
|-------------|--------------|-------------|-----------|
| 1. अनुसरण | 2. संकीर्ण | 3. अविशिष्ट | 4. अधोपतन |
| 5. सार्वभौम | 6. प्रतिष्ठा | 7. संकुचित | |

9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न :-

1. वक्रोक्ति विषयक विभिन्न आचार्य एवं उनकी स्थापनाओं पर प्रकाश डालें ।

2. कुन्तक की वक्रोक्ति विषयक स्थापनाओं का विवेचन कीजिए ।

3. वक्रोक्ति विषयक कुन्तक परवर्ती आचार्यों की स्थापनाओं का विवेचन कीजिए ।

9.7. संदर्भ ग्रंथ

- (1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा
- (2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. सत्यदेव चौधरी
- (3) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र
- (4) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय
- (5) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र
- (6) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. बलदेव उपाध्याय

.....

औचित्य सम्प्रदाय : आचार्य एवं उनके सिद्धान्त

- 10.0 रूपरेखा
- 10.1 उद्देश्य
- 10.2 प्रस्तावना
- 10.3 औचित्य सम्प्रदाय : आचार्य एवं उनके सिद्धान्त
- 10.4 सारांश
- 10.5 कठिन शब्द
- 10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 10.7 संदर्भ ग्रंथ

10.1 उद्देश्य :-

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- ◆ औचित्य सिद्धान्त के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ◆ औचित्य सम्प्रदाय से संबंधित विभिन्न आचार्यों एवं उनके सिद्धान्तों से अवगत हो सकेंगे।

10.2 प्रस्तावना :-

काव्यशास्त्र के सभी सम्प्रदायों की कसौटी का आधार औचित्य है। उचित के भाव को औचित्य कहते हैं। 'उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते' (क्षेमेन्द्र) जो जिसके सदृश या अनुकूल होता है वह उसके लिए उचित है 'उचितं प्राहुराचार्यः सदृशं किल यस्य यत्।' क्षेमेन्द्र के इस कथन से स्पष्ट है कि औचित्य के नहीं रहने पर बाह्य शोभा के हेतु रूप में अलंकार महत्वहीन हो जायेंगे। गुण श्रुत, सत्य एवं शील के उपार्जित नहीं रह पायेंगे। यहाँ तक कि रस भी औचित्य निष्प्राण हो जायेगा। इसीलिए क्षेमेन्द्र ने औचित्य को न केवल काव्य का बल्कि काव्य की आत्मा का प्राण माना है।

10.3 औचित्य सम्प्रदाय आचार्य एवं उनके सिद्धान्त :-

संस्कृत के आचार्यों में रुद्रट, आनन्दवर्द्धन एवं क्षेमेन्द्र ने औचित्य का प्रत्यक्ष विवेचन किया । परोक्ष विवेचन करने वाले आचार्यों भरत, भामह, दण्डी, भट्टलोल्लट आदि ने औचित्य का सीधा प्रयोग न करके उसको गुण, अलंकार या अन्य काव्यांग के रूप में ग्रहण और विवेचित किया । परोक्ष विवेचन भी क्या उचित है इस विषय को केन्द्र में न रखकर क्या अनुचित है इस सूची पर ध्यान केन्द्रित करता है । दोष विवेचन वह चाहे शब्द दोष हो या अलंकार दोष अथवा फिर इस-दोष के रूप में मिलता है । भरतमुनि ने औचित्य को 'अनुरूपता', भामह ने 'न्याय्यता' और 'युक्तता', दण्डी ने 'विधि दर्शिता मार्ग', जगन्नाथ ने 'योग्यता' के पर्याय रूप में लिया ।

10.3.1 आचार्य क्षेमेन्द्र :-

औचित्य सम्प्रदाय के उद्भावक एवं प्रणेता रूप में आचार्य क्षेमेन्द्र का नाम निर्विवाद स्वीकृत है किन्तु इसके बीज आदिम आचार्य भरतमुनि में ही मिलते हैं । हालांकि भरत ने उचित या औचित्य का तो नहीं किन्तु औचित्य के पर्याय 'अनुरूप' का प्रयोग किया है-

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः,
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः ।
गतिप्रचारानुगतं च पाठयं,
पाठटानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥

अर्थात् नाट्य में उचित का निर्वाह करने हेतु आवश्यक है कि वह (आयु) के अनुरूप वेष हो, वेष के अनुरूप चाल-ढाल हो, चाल-ढाल के अनुसार बोलचाल हो और बोलचाल के अनुसार अभिनय हो । स्पष्ट है कि भरतमुनि के इस उदाहरण में औचित्य सिद्धान्त का बीज तत्त्व समाहित है । भरतमुनि का आलोच्य विषय नाट्य था और उसका साध्य रस इसीलिए रस की दृष्टि से उन्होंने अनुरूपता और अननुरूपता का विचार किया ।

10.3.2 भामह ने चारुता की दृष्टि से औचित्य पर धनात्मक और निषेधात्मक दोनों पक्षों पर विचार किया । औचित्य के लिए उनके यहाँ 'न्याय' और 'युक्तता' जैसे पर्याय मिलते हैं । इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेकशः गुण, अलंकार एवं दोषाभाव से चारुतोत्पादक उपकरणों की युक्तता पर विचार किया । भरत ने दृश्यकाव्य में लोक स्वभाव के अनुकरण की बात कही थी, भामह ने महाकाव्य जैसे श्रव्य काव्य के स्वरूप निर्वचन के सन्दर्भ में 'युक्तं लोकस्वभोवन' कहा । भामह के अनुसार यदि कोई पदावली में माधुर्य चाहे और अत्यधिक सामासिक पदावली का प्रयोग करे तो यह असदृश योजना होने से अनौचित्य के कारण सुमेधा लोगों को चारु (सुन्दर) न लगेगी । उन्होंने रीति के रस प्रतिकूल प्रयोगों को 'अरीतिमत्' दोष कहा । उसी को रीति का अनौचित्य कहा जा सकता है । शृंगार रस के लिए गौड़ी अनुकूल परंतु वीर, अद्भुत रस के लिए प्रतिकूल नहीं ? वर्णों के रस विरोधी प्रयोग से वर्ण विषयक अनौचित्य उपस्थित होता है । कोश लब्ध या व्याकरण सम्मत होने पर भी कोई प्रयोग रूढ़ न हुआ हो तो उसे काव्य में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए । भामह ने स्पष्ट कहा कि दोष का मूल अनौचित्य में होता है ।

उपरिवत् औचित्य के निषेधात्मक पक्षों के साथ भामह ने विधेयात्मक पक्ष की भी चर्चा की । औचित्य के सद्भाव

का संस्पर्श कभी-कभी दोष भी गुण का रूप दे देता है – ‘सन्निवेशविशेषात्...स्त्रजामिव ।’ अर्थात् विशेष संयोजन के कारण दोषपूर्ण उक्ति भी इसी प्रकार शोभावान् हो जाती है जिस प्रकार माला के मध्य स्थित पलाश । इसी तरह उन्होंने कहा कि यदि आश्रय सुन्दर हो तो असाधु भी उसी प्रकार शोभावान् हो जाता है, जिस प्रकार किसी कमनीय रमणी के नेत्रों में पड़ा हुआ काजल उसके लावण्य की श्रीवृद्धि करता है । भामह ने जिस ‘सन्निवेशविशेषात्’ की बात कही वह वास्तव में औचित्य ही है । काव्य दोष औचित्य का आश्रय पाकर काव्य गुण बन जाता है । उदाहरणार्थ उन्होंने स्पष्ट किया कि सामान्य स्थिति में शब्द पुनरावृत्ति दोष हो जाता है किन्तु शोक, भय आदि भावों की अभिव्यक्ति में वक्ता घबराकर एक ही शब्द बार-बार बोलता है तो वह पुनरावृत्ति दोष नहीं रहेगा अपितु रस वृद्धि करने वाला एक गुण हो जाएगा ।

दण्डी ने भी अपने दोष विवेचन में औचित्य शब्द का प्रयोग नहीं किया यद्यपि उसका मूलाधार औचित्य सम्बन्धी अवधारणा ही है । उनके अनुसार देश, काल, लोक आदि के प्रतिकूल बातें भी कवि-कौशल से औचित्य का स्पर्श पाकर काव्य गुण का रूप धारण कर लेती हैं- ‘विरोधः सकलोऽप्येष...गुणवीथीं विगाहते ।’ इस प्रकार अनौचित्य के कारण जो दोष होता है, वह औचित्य का संस्पर्श पाकर गुण बन जाता है । दोष निवारण में दण्डी ने कर्त्ता से आगे बढ़कर ग्राहक तक की बात की और कवि कौशल के साथ ग्राहक (सहृदय) की मनः स्थिति को भी कारण बताया ।

10.3.3 यशोवर्मन पहले नाटककार थे जिन्होंने औचित्य शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उपयुक्त के सन्दर्भ में किया । औचित्य सिद्धान्त का उन्होंने सार रूप में इस प्रकार उल्लेख किया –

‘औचित्यं बचसां प्रकृत्यनुगतं...तैः एतावदेवास्तु नः ।।’

इस श्लोक में वाणी औचित्य, पात्रोचित अवसरानुकूल रस पुष्टि का मार्मिक कथन है अर्थात् वाणी का औचित्य ‘प्रकृति’ के स्वभाव को ध्यान में रखने पर आता है । प्रकृति उत्तम, मध्यम, अधम होती है । स्वभाव के अनुरूप ही वचन विन्यास प्रशंसाप्रद होता है । रस की विभावादि सामग्री पुष्टि पात्र को ध्यान में रखकर होनी चाहिए । इन पक्तियों में यशोवर्मन ने तीन मुख्य बातें कही-

(1) नाटक में वचनों का औचित्य होना चाहिए (2) उपयुक्त अवसर पर पात्रों के अनुकूल रस की पुष्टि होनी चाहिए और (3) कथा की योजना में कोई अतिक्रम नहीं होना चाहिए । इस दृष्टि से भरत के चिन्तन के साथ उनमें अद्भुत साम्य मिलता है । भरत की भांति उन्होंने भी समस्त नाटकीय तत्वों की सफल योजना का एकमात्र आधार औचित्य को ही माना है ।

10.3.4 वामन का दोष विवेचन पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परा पर आधारित है । उन्होंने यह नहीं बताया कि अमुक स्थिति में दोष गुण हो जाते हैं । भामह से सहमत होते हुए उन्होंने कुछ प्रयोगों को निषिद्ध एवं कुछ को प्रयोज्य बताया । जैसे-हन् धातु का गत्यर्थक प्रयोग, पदारम्भ में ‘खलु’ का प्रयोग, अति प्रयुक्त लक्षणा का बारम्बार प्रयोग, शिव-पार्वती युग्म के लिए शिवौ, ‘रुद्रौ’ का प्रयोग और ‘मार्ग’ धातु का ‘खोजने’ के अर्थ में आत्मनेपद का प्रयोगों को अनुचित, व्यर्थ अथवा निषिद्ध माना । प्रयोज्य प्रयोगों में उन्होंने कुछ प्रयोग गिनाये जैसे-श्लोक के चरणान्त में हल् हो, पदान्त में लघु गुरु की व्यवस्था हो, विशेष्य की प्रतीति कराने के लिए विशेषण का प्रयोग, अत्यन्त रूढ़ देश्य

शब्दों को संस्कृत में प्रयुक्त करना, स्तन चक्षु आदि का नित्य द्विवचन में प्रयोग और अधर बिम्ब का प्रयोग ही उचित है ।

10.3.5 महिमभट्ट ने पांच शब्द-दोषों विधेयाविमर्श, प्रक्रम भेद, क्रम भेद, पुनरुक्ति एवं अधिक पदत्व द्वारा अनौचित्य का विवेचन किया । अनौचित्य को वे काव्य का सर्वातिशायी दोष मानते हैं । अनौचित्य के दो रूप उन्होंने विवेचित किये-अन्तरंग और बहिरंग । अन्तरंग का सम्बन्ध काव्य के आन्तरिक तत्व रस से है और बहिरंग का रसेतर बाह्य उपकरणों के साथ सम्बन्ध है । अर्थ-विषयक अनौचित्य अन्तरंग अनौचित्य और शब्द-विषयक अनौचित्य बहिरंग अनौचित्य ही है । अन्तरंग अनौचित्य अर्थात् मुख्यभाव और रस के बीच सम्बन्ध के अभाव को ही वे अनौचित्य कहते हैं । औचित्य के बिना वे रसास्थिति को सम्भव ही नहीं मानते ।

10.3.6 रुद्रट ने पहली बार विभिन्न काव्यांगों में औचित्य के निर्वाह की बात कही । उनका महत्व इस दृष्टि से भी है कि उन्होंने औचित्य का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में उल्लेख किया है । काव्य के सन्दर्भ में काव्यार्थ के अनुरूप क्रिया, पद एवं अन्य सामग्री के प्रयोग पर बल दिया । केवल वक्ता का औचित्य ही रक्षित हो, यह पर्याप्त नहीं वरन् विषय का भी अपना महत्व है और तदनुरूप सारी सामग्री की नियोजना होनी चाहिए । काव्य-समीक्षा में वक्ता के औचित्य पर सर्वप्रथम विचार रुद्रट ने किया । उन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन प्रकार के वक्ताओं के बीच परस्पर सम्बन्ध के औचित्य के निर्वाह की बात कही । अन्यथा वक्ता संबंधी औचित्य का भंग वक्तृ विषयक अनौचित्य माना जायेगा । रुद्रट ने ग्राम्य दोष का विचार करते हुए कहा कि जो पद जहाँ अनुचित हो वहाँ वह ग्राम्य है । यह ग्राम्यता वस्तु-विषयक भी हो सकती है और वक्तृ विषयक भी । जो पद वस्तु के लिए तो उचित है, पर वक्ता के लिए अनुचित है वह वक्तृ विषयक ग्राम्य दोष है जो पदवस्तु के लिए अनुचित है वहाँ विषय विषयक ग्राम्य दोष होता है । उन्होंने इस दोष के समाधान हेतु बताया कि अर्थ विशेष या विभक्ति विशेष के सम्बन्ध या सम्पर्क से ग्राम्य पद अपना अनौचित्य त्याग देते हैं और उचित भाव का संवहन करने लगते हैं । अन्य दोष भी किस स्थिति में अपने दोष का परित्याग कर योग्य, उचित बन जाते हैं इसका भी उन्होंने निरूपण किया । अलंकारवादियों की परम्परा के रुद्रट ही ऐसे हैं जिन्होंने दोषों के रूप का अनौचित्य विवेचित किया । 'विरस' के विवेचन में उन्होंने चर्चा की कि अन्य रस के प्रसंग में यदि अनवसर पर प्रयुक्त (क्रमापेत) रस की सामग्री आ जाए तो वहाँ विरसता होती है । रुद्रट ने अपने दोष-विवेचन में ऐसे स्थलों की ओर संकेत किया जहाँ दोष भी गुण बन जाते हैं ।

10.3.7 आनन्दवर्द्धन ने प्रबन्ध की रस व्यंजकता पर विचार करते हुए प्रासंगिक रूप से विभावादि के अनौचित्य की बात कही । उन्होंने रस का परम रहस्य औचित्य को स्वीकारा- 'प्रसिद्ध औचित्य बन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा' । उनके अनुसार औचित्य का विस्तार केवल काव्य तक ही नहीं, छन्दरहित गद्यात्मक रचनाओं में भी होता है । यहाँ तक कि कथात्मक साहित्य में भी औचित्य के निर्वाह की अपेक्षा होती है । इस प्रकार औचित्य-निर्वाह से गद्य और पद्य दोनों सुशोभित होते हैं । उन्होंने रस-प्रकाशन का औचित्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हुए प्रबन्धगत रस के पांच औचित्य (हेतु) का उल्लेख किया -

क. विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव और संचारी भाव के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथा-शरीर का निर्माण ।

- ख. ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त कथा के रस के प्रतिकूल अंशों का त्याग और अभीष्ट रसानुकूल नवीन कल्पना करके कथा का संस्कार करना ।
- ग. केवल शास्त्रीय विधान के पालन से नहीं बल्कि रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से ही सन्धि और संध्यांगों की रचना की जाए ।
- घ. यथावसर रसों के उद्दीपन, प्रशमन की योजना और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसंधान वांछनीय है ।
- ङ. रसानुरूप अलंकार योजना का निर्वाह ।
- इ. इन रस हेतुओं (औचित्य) के साथ आनन्दवर्द्धन ने छः रस अहेतुओं (अनौचित्य) की भी चर्चा की—
- अ. रस भंग की स्थिति तक उत्पन्न होती है जबकि इस के विभावादि वर्णन के तुरन्त पश्चात् किसी विरोधी रस के विभावादि का वर्णन हो ।
- ब. जब प्रस्तुत रस की विरोधी वस्तुओं का विस्तृत वर्णन किया जाये । उदाहरणार्थ शृंगार रस के साथ अलंकार चमत्कार के प्रति मोह अनुचित होगा ।
- स. अवसर न होने पर भी प्रस्तुत रस को विच्छिन कर दिया जाये अथवा अनावश्यक विस्तार वर्णन किया जाये ।
- य. रस-परिपुष्टि के पश्चात् भी पुनः अकारण ही रस को उदीप्त करने पर रस अनौचित्य होता है ।
- र. व्यवहार औचित्य के अभाव में भी रस भंग हो जाता है ।
- ल. काव्य-वृत्तियों का विषयानुरूप प्रयोग न करने से भी रस भंग की स्थिति उत्पन्न होती है ।

10.3.8 कुन्तक के अनुसार काव्य का प्राण तत्त्व वक्रता है किन्तु वक्रता का मूलाधार औचित्य ही है । 'उचिताभिधानजीवित्तत्त्वाद्' अर्थात् यथानुरूप कथन अथवा वक्रता ही जीवन है । साहित्य शब्द का आधार औचित्य है । शब्द और अर्थ का उचित सहभाव ही उन्हें मान्य है । वक्रता के भेदोपभेद का आधार स्वीकार किया । वक्रता आह्लादकारी है किन्तु औचित्य के अभाव में किसी प्रकार का आह्लाद सम्भव नहीं । कुन्तक की वर्णवक्रता ही वर्णौचित्य है । वाक्य वक्रता को व्यवहारौचित्य कहा जा सकता है । प्रबन्ध वक्रता में प्रबन्ध, रस, नाम-विषयक औचित्य समाविष्ट हो जाते हैं । व्यवहार वक्रता को व्यवहारौचित्य और स्वभाव वक्रता को स्वभावौचित्य कहा जा सकता है । लिंग-वक्रता को लिंगौचित्य एवं काल-वक्रता को कालौचित्य कहा गया है । उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि उक्तिगत वक्रता के उच्छलन के लिए वक्रता का हृदय रससिक्त होना चाहिए । रसप्रवण कवि की वाणी में स्वयं उत्कर्ष आ जाता है । इस प्रकार काव्य का जीवित वक्रता, वक्रता का जीवित रस और रस का जीवित औचित्य अपने आप हो जाता है । जिस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने रस का परम रहस्य औचित्य को बताया उसी प्रकार कुन्तक ने भी कहा है ।

औचित्य सिद्धान्त की इस पृष्ठभूमि के पश्चात् क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्बन्धी विवेचन पर विचार किया जा सकता है । उनका महत्त्व उद्भावक के रूप में उतना नहीं है जितना इस दृष्टि से कि उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किये गये चिन्तन को व्यवस्थित रूप दिया । क्षेमेन्द्र ने औचित्य पर मौलिक ढंग से खासतौर पर औचित्य को ध्यान में रखकर चर्चा की जबकि पूर्ववर्ती आचार्य अनौचित्य अर्थात् क्या अनुचित है यहीं तक सीमित रहते थे । क्षेमेन्द्र रसवादी आचार्य

हैं इसलिए वे मानते हैं कि गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि विभिन्न काव्यांगों की योजना ऐसी होनी चाहिए कि वे सभी मिलकर रसास्वादन में सहायक हों। इन काव्यांगों की योजना दोषपूर्ण होगी तो रसास्वादन में व्याघात उत्पन्न होगा। सहजता और स्वाभाविकता को उन्होंने काव्य और नाटक के लिए उचित माना जिससे पाठक और सहृदय की आस्था उत्पन्न हो। काव्य के विभिन्न अंगों के साथ औचित्य का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं –

‘औचित्यस्य..... गुणा गुणाः ।।’

इस लम्बे उद्धरण का अभिप्राय है कि काव्य का चमत्कार और चारुता तथा औचित्य में कार्य-कारण का सम्बन्ध होता है। औचित्य कारण है और चमत्कार तथा चारुता कार्य हैं जो औचित्य नामक तत्व से उत्पन्न होते हैं। काव्य के अन्य अंग, गुण, अलंकार का तो जीवन ही औचित्य है। इस के अतिरिक्त अन्य काव्य तत्वों के साथ औचित्य का सम्बन्ध शरीर तथा शरीरी का-सा है और इस औचित्य का आत्मा और जीवन का सम्बन्ध है। औचित्य रससिद्ध काव्य की जीवन शक्ति है। अलंकारों के प्रयोग में औचित्य का निर्वाह होना चाहिए अन्यथा काव्य-गुण भी गुण नहीं रहते। यदि अलंकारों और गुणों के प्रयोग में औचित्य की अपेक्षा की जाती है तो यही गुण और अलंकार काव्य की शोभावृद्धि नहीं करते, वरन् उसे हास्यास्पद बना देते हैं। उदाहरणार्थ-

‘कण्ठे मेखलया.....नालंकृतिर्ना गुणाः ।’

अर्थात् गले में मेखला, कटि में हार, हाथों में नूपुर और पैरों में केयूर (बाजूबन्द) पहनने तथा शरणागत के शौर्य दिखाने एवं शत्रु के प्रति करुणा का प्रदर्शन करने से किसकी हंसी नहीं उड़ती? इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य सम्बन्धी अवधारणा की व्यावहारिक उपादेयता का भी संकेत दिया। अभी तक आलोचक एवं समीक्षक की दृष्टि से औचित्य की चर्चा नहीं हुई थी। क्षेमेन्द्र ने सर्वप्रथम बताया कि किसी भी कृति की सफलता जांचने हेतु उसके विभिन्न मार्मिक अवयवों में निहित औचित्य की समीक्षा आलोचक को करनी होगी। आलोचक यह देखे कि गुण, अलंकार अपने स्थान पर उचित है या नहीं। अंग-अंगी का सम्बन्ध संतुलित है या नहीं। गुण-गुणी तथा अवयव-अवयवी संतुलन में है या नहीं।

10.4 सारांश :-

क्षेमेन्द्र पूर्ववर्ती विचार ही औचित्य के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण हैं। क्षेमेन्द्र का महत्व दो दृष्टियों से है कि उन्होंने औचित्य के सम्बन्ध में विशेषरूपेण चर्चा की और दूसरे यह कि अब तक के औचित्य चिन्तन को व्यवस्थित किया। इसके बाद का औचित्य सम्बन्धी विकास अत्यन्त संक्षिप्त है। केवल पण्डितराज जगन्नाथ दिखाई पड़ते हैं, जिन्होंने गुण-व्यंजक वर्णों एवं रचना प्रकारों का सविस्तार वर्णन किया। किस रस में कौन-सा गुण है और किस गुण की अभिव्यक्ति के लिए किस प्रकार की वर्ण योजना समुचित है इसका अत्यन्त सूक्ष्म विवरण वहां मिलता है। आधुनिक युग के विचारकों ने औचित्य विचार किसी ग्रन्थाकार रूप में नहीं किया वरन् हिन्दी निबन्धों एवं आलोचना के माध्यम से समीक्षक की दृष्टि से अप्रत्यक्ष रूप में औचित्य-अनौचित्य विचार मिलता है। इन प्रमुख विचारकों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ० नगेन्द्र प्रभृति विद्वानों के नाम गिने जा सकते हैं। किन्तु इतना तो सर्वविदित ही है कि

संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों की तुलना में इनका महत्व सूक्ष्म है तथापि आज के समीक्षक और आलोचक की दृष्टि विकास हेतु इन विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त औचित्य विषयक विचार प्रशंसनीय कहे जा सकते हैं।

10.5 कठिन शब्द :-

- | | | | |
|------------|--------------|------------|------------|
| 1. प्रभृति | 2. अभिव्यक्त | 3. समीक्षक | 4. आलोचक |
| 5. सूक्ष्म | 6. सविस्तार | 7. विवरण | 8. उद्दीपन |
| 9. औचित्य | | | |

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न :-

1. औचित्य सम्प्रदाय विषयक विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।

2. आचार्य क्षेमेन्द्र के सिद्धान्तों का आकलन कीजिए।

3. आचार्य यशोवर्मन और भामह के औचित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

10.7 संदर्भ ग्रंथ

- (1) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा
- (2) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. सत्यदेव चौधरी
- (3) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. भगीरथ मिश्र
- (4) सिद्धांत और अध्ययन – गुलाब राय
- (5) भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा – डॉ. नगेन्द्र
- (6) भारतीय काव्यशास्त्र – डॉ. बलदेव उपाध्याय

.....

प्लेटो का अनुकरण सिद्धान्त

- 11.0 रूपरेखा
- 11.1 उद्देश्य
- 11.2 प्रस्तावना
- 11.3 प्लेटो का अनुकरण-सिद्धान्त
- 11.4 प्लेटो : काव्य-सत्य
- 11.5 प्लेटो : प्रेरणा का सिद्धान्त
- 11.6 सारांश
- 11.7 कठिन शब्द
- 11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 11.9 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

11.1 उद्देश्य :

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- प्लेटो के अनुकरण सिद्धान्त के विषय में जान सकेंगे।
- प्लेटो के काव्य-सत्य संबंधी विचारों से अवगत होंगे।
- प्लेटो के प्रेरणा सिद्धान्त की जानकारी हासिल करेंगे।

11.2 प्रस्तावना :

प्लेटो के मत से मूल सत्य 'प्रत्यय' है। उस सत्य प्रत्यय का अनुकरण प्रकृति है और उस प्रकृति का अनुकरण कलाकृति अथवा कविता में प्रकट होता है। जो अंतर सत्य और असत्य के बीच है, ज्ञान और धारणा के बीच है वही अस्तित्व और आभास के बीच है। कला का स्वभाव अनुकरणात्मक है अर्थात् असत्यमूलक है। अनुकरण का अनुकरण

होने के कारण कविता सत्य से तीन गुना दूर हो जाती है।

11.3 प्लेटो का अनुकरण सिद्धान्त :

प्लेटो के काव्य और कला-सम्बन्धी सिद्धान्त को समझने के लिए उसका पलंग (BED) का उदाहरण हमारी काफी सहायता करता है। हम जब एक पलंग बनवाना चाहें, तो एक 'आदर्श' चित्र हमारे विचार (Idea), ख्याल या कल्पना में होता है। फिर एक चित्र वह बनता है जिसे चित्रकार उकेरता है और जिसके आधार पर बढ़ई पलंग तैयार करता है। सत्य या आदर्श तो व्यक्ति के विचार या आइडिया में है। इसलिए जिस वस्तु की रचना बढ़ई ने की है, वह विचार में अवस्थित कृति से तीन सोपान दूर है। प्लेटो यह मान कर चला कि ईश्वरीय या प्राकृतिक सत्य का चित्र नई रचनात्मक कृति नहीं है, यह तो सत्य की अनुकृति है। चित्रकार या कवि द्वारा प्रस्तुत गुलाब का चित्र प्राकृतिक पुष्प की अनुकृति है यह वास्तव में पर-कृति या दूसरे की कृति है जो सत्य नहीं है।

*All art imitates nature and
is thrice removed from reality*

प्लेटो के अनुसार आदर्श तो विचार या प्रत्यय (Idea) में स्थित है। इस प्रकार कलाकार उस आदर्श की अनुकृति प्रस्तुत करता है जो विचार (Idea) में अवस्थित होता है। कलाकार सत्य का ही अनुकरण नहीं करता, वह तो अनुकरण का भी अनुकरण प्रस्तुत करता है। इसीलिए कलाकार और कवि सत्य से तीन, सोपान दूर होते हैं। अंग्रेजी शब्द 'आइडिया' से बने 'आइडियल' से बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। आइडियल या आदर्श विचार का विषय है।

ईश्वर और सत्य एक ही तत्त्व के दो नाम थे इन दार्शनिकों की मुख्य स्थापना यही थी कि ईश्वर या सत्य एक है, उसके अनेक रूप नहीं हो सकते।

तत्कालीन काव्यों और नाटकों में ऐसी कथाओं की भरमार थी जिनमें विविध देवता परस्पर ईर्ष्या, द्वेष जैसी दुर्भावनाओं से ग्रस्त रहते तथा मनुष्यों से भी छद्म पूर्ण व्यवहार करते थे। सत्य पर अडिग विश्वास रखने वाले इन दार्शनिकों ने बहुदेववाद पर शंकाएँ उठाईं तथा इस प्रकार के साहित्य की भर्त्सना की। ऐथन्स-निवासी प्लेटो ने दार्शनिक चिन्तन को प्रधानता देने वाले अपने नगर की स्पार्टा के बलशाली एवं युद्ध कुशल नागरिकों के हाथों पराजय का अनुभव किया था इसलिए वह यह सोचने को बाध्य हो गया कि 'ऐथन्स के समाज में मूलभूत निर्बलता का कारण क्या है।' प्लेटो की आठ प्रसिद्ध कृतियों में 'रिपब्लिक' की चर्चा सर्वाधिक होती है।

प्लेटो कला और कविता के आलोचक की अपेक्षा एक राजनीतिज्ञ था।

वास्तव में प्लेटो का मुख्य उद्देश्य एक आदर्श राज्य की स्थापना करना था, जिसे चित्रकार रंगों द्वारा निर्मित करता है, कवि शब्दों द्वारा। यह चित्र कलाकार या कवि द्वारा अनुभूत एक फूल की अनुभूति है जब कि सर्वश्रेष्ठ या आदर्श फूल तो कहीं विचार या आइडिया में रहा करता है।

कलाकार और कवि प्रकृति की अनुकृति या नकल (Imitation) किया करते हैं इसलिए उनकी रचना को 'सत्य' नहीं माना जा सकता। वास्तविक सत्य तो ईश्वरीय है। कलाकार और कवि अपनी कल्पना द्वारा ऐसा निर्माण करते हैं जो मूल सत्य से बहुत दूर होता है।

इस प्रकार प्लेटो कविकल्पना को कवि की विशिष्ट प्रतिभा ना मानकर ऐसी कुवृत्ति के रूप में देखता है जो कवि को असत्य चित्रण के लिए प्रेरित करती है तथा मनुष्यों में कुकर्म को प्रोत्साहित करती है। इसी कल्पना के सहारे कवि ऐसी कृति की रचना करते हैं जो असत्य होती है, अशुभ भी। दूसरे शब्दों में वह कविता को 'सत्य' नहीं मानता। वह कलाकृति को सृजनात्मक कृति न मान कर कवि को मात्र अनुकरण कर्ता या नकलची करार देता है। जब प्लेटो से पूछा जाता कि होमर जैसे कवियों का दोष क्या है, तो प्लेटो अपने शिष्यों से कहता है "हमारा" (सुकरात और उसके शिष्यों या सहधर्मियों का) उद्देश्य एक आदर्श राज्य का निर्माण करना है। साहित्य की आलोचना या उसकी रचना से हमें कुछ लेना-देना नहीं है। होमर एक महानतम कवि हो सकता है किन्तु हम उसे अपनी रिपब्लिक में कोई स्थान नहीं देंगे।"

"आखिर इन लेखकों का दोष क्या है? प्लेटो प्रखर स्वर में उत्तर देता है—वे झूठ कहते हैं और यही नहीं; वे एक बुरा झूठ कहते हैं। (They tell a lie and they tell a bad lie)। झूठ तो इस कारण कि वे जो कुछ कहते हैं, वह वास्तविक नहीं होता। वह काल्पनिक होता है, सत्य की अनुकृति होता है। 'बुरा' इसलिए कि उनके लेखन का बच्चों और युवाओं के चरित्र पर बुरा प्रभाव पड़ता है। प्लेटो को अपने राज्य या रिपब्लिक के लिए जिस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता है, उसी को वह शुभ स्वीकार करता है। क्या इन सभी लेखकों का सारा साहित्य बहिष्कृत माना जाएगा? प्लेटो इस प्रश्न का उत्तर न भी देता हुआ अपनी बात स्पष्ट करता है। वह साहित्य की परख के लिए उपयुक्त जाँच कर्ताओं की नियुक्ति करना चाहता है। इनकी रचनाओं के ऐसे अंश जिनमें सत्य अर्थात् ईश्वर की प्रार्थनाएँ हो, या फिर ऐसे अंश जो बच्चों के चरित्र पर शुभ प्रभाव डाले, वही 'रिपब्लिक' के लिए स्वागत-योग्य हैं।

उपर्युक्त चर्चा से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं।

प्लेटो कला और कविता को अनुकरण या नकल (Imitation) मानता है।

प्लेटो कवि की कल्पना-शक्ति को बुराई की जड़ मानता है क्योंकि कल्पना के सहारे ही कलाकार और कवि मनगढ़न्त कलाकृतियाँ या कविताएँ गढ़ा करते हैं।

11.4 प्लेटो : काव्य—सत्य

प्लेटो यह मान कर चला कि ईश्वर या सत्य का चित्र प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। कलाकार या कवि जिस चित्र की प्रस्तुति करते हैं वह एक अनुकृति या नकल (Imitation) के सिवा कुछ नहीं है। कला के क्षेत्र से उदाहरण देते हुए प्लेटो ने स्पष्ट किया कि एक पलंग तो वह है जिसे बढई ने बनाया है। किन्तु बढई के सामने किसी चित्रकार द्वारा रेखांकित पलंग का प्रारूप विद्यमान रहा है। किन्तु क्या चित्रकार द्वारा प्रस्तुत पलंग आदर्श है? स्पष्ट है, नहीं। चित्रकार पलंग के अनेक चित्र प्रस्तुत कर सकता है। तो आदर्श पलंग की अवस्थिति कहाँ है जिसे इन सब का आधार या आदर्श माना जा सकता है ?

कवि या कलाकार द्वारा रचित कृति सत्य नहीं हो सकती। वह तो प्रकृति की अनुकृति है। प्रकृति की जो वस्तु कविता या कला का आधार बनती है, वह भी एक विचारात्मक सत्य का प्रारूप है। Idea और Idealisation आपसी

संबंध के स्पष्टीकरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

प्लेटो कवि को एक पागल मनुष्य मानता था जो एक आंतरिक प्रेरणा के वशीभूत होकर रचना कर देता था। कविता का युवाओं के चरित्र पर भी अच्छा प्रभाव नहीं होता वह अपने 'रिपब्लिक' में उन्हीं कृतियों के प्रवेश की अनुमति देना चाहता था जिनका चरित्र पर शुभ प्रभाव हो।

प्लेटो के पश्चात अरस्तू ने काव्य कृति और कलाकृति को एक नई रचना मानकर प्लेटो द्वारा प्रस्तुत शंकाओं का निवारण करने का यत्न किया। यह तो सही है कि ज्ञानेन्द्रियों यथा नाक, आँख द्वारा गृहीत संवेदन पूर्ण सत्य के संकेतक नहीं होते। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में स्वच्छन्दतावादी कवियों ने भी धरती की सुन्दरता को स्वर्गिक सुन्दरता की छाया मात्र माना। वास्तव में प्लेटो के आदर्शवादी सिद्धान्तों को ही विचारवादी सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। स्पष्टतः प्लेटो सत्य का अन्वेषक था और ईश्वर को ही पूर्ण सत्य मानता था। प्लेटो की 'रिपब्लिक' नामक पुस्तक में प्रश्न और फिर उनके उत्तर दिए गए हैं। सुकरात और ग्लूकान आपस में बातें कर रहे थे, तो ग्लूकान ने पूछा बच्चों को शिक्षा किस प्रकार की देनी चाहिए। उत्तर था प्रारंभ में दो विषय पढ़ाने चाहिए

(1) संगीत (2) जिमनास्टिकस।

वस्तुतः उन दिनों नागरिकों के लिए दो चीजों की ओर बहुत ध्यान दिया जाता था

(1) सच्चरित्रता (2) शारीरिक बल क्योंकि युवकों को सिपाही बनाना एक मुख्य उद्देश्य था। संगीत में ही आगे चल कर कहा गया कि साहित्य को भी स्थान देना चाहिए।

साहित्य के उसने दो भाग किए—सच्चा और झूठा और सीधा प्रश्न किया— कि क्या आप चाहते हैं कि बच्चों को ऐसी कहानियाँ पढ़ाई जाएं जिन्हें कुछ लोगों ने गढ़ लिया है और जो बच्चों के मन में ऐसे विचार भर देती हैं जो बिलकुल अवांछित हैं ?

अब 'ऐडिमैटस' नामक जिज्ञासु पूछता है कि आखिर उनमें नुकस क्या है, तो उत्तर मिलता है त्रुटि बहुत गंभीर है, यह झूठ कहते हैं और बुरा झूठ कहते हैं।

बुरा इसलिए कि इससे बुराई फैलती है।

फिर ऐडिमैटस प्रश्न करता है कि आखिर होमर महाकवि है इस पर वह उत्तर देता है यह याद रखो कि हम कवि नहीं बल्कि राज्य के निर्माता हैं।

प्लेटो को होमर के महान् कवि होने में सन्देह नहीं था। उसे चिन्ता यह थी कि बच्चों पर और सर्व साधारण पर उस साहित्य का अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता।

उसने एक जगह कहा “We are ready to acknowledge that Homer is the greatest of poets and first of tragedy writers, but we must remain firm in our convictions that Hymns to the gods and praises of famous men are the only poetry which ought to be admitted into our state.

सुकरात और प्लेटो के सिद्धान्तों के आरंभ के साथ ही यथार्थवाद और आदर्शवाद की बहस शुरू हो जाती है।

प्लेटो ईश्वर को ही नरम सत्य मानता था। कविता और कला को वह अनुकृति या 'नकल' समझता था। नकल से प्लेटो का अभिप्राय सत्य से दूरी था।

प्लेटो के सामने ऐसी राजनीतिक व्यवस्था थी जो सुकरात जैसे चिन्तकों को मृत्यु दण्ड देती थी। बहुत-से कवि सुकरात के विरोधी थे। इसलिए प्लेटो उन्हें क्षमा नहीं कर सकता था। प्लेटो सत्य के विषय में सुकरात की ही भांति प्रश्न करता था और यह बात उस समय के शासक वर्ग को रास नहीं आ सकती थी।

होमर के वीरकाव्य तथा अन्य त्रासदी-प्रदायक नाटक देवताओं के ऐसे कृत्यों से भरे से रहते थे जिनमें झूठ और चालाकी आवश्यक थी। प्लेटो इन रचनाओं को सत्य का दावेदार नहीं मान सकता था।

प्लेटो का सीधा सम्बन्ध साहित्य या कला की आलोचना से नहीं था। उसने कविता को राज्य-निर्माण के उपकरण के रूप में देखा। किन्तु उसकी स्थापनाओं ने अरस्तू, होरेस तथा अन्य भावी आचार्यों के चिन्तन को प्रभावित किया। क्या कविता मात्र अनुकृति है या फिर प्राकृतिक सौंदर्य की पुनर्प्रस्तुति अथवा कलाकृति या साहित्यिक रचना स्वयं में स्वतंत्र रचना है, इन्हीं प्रश्नों पर विचार करते प्लेटो के परवर्ती आलोचक आगे बढ़े हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्लेटो की दृष्टि राजनीति की परिधि तक सीमित रहने के कारण कला और काव्य के साथ पूरा न्याय नहीं कर पायी। किन्तु आलोचना के क्षेत्र में प्लेटो का उल्लेख किए बिना आलोचना के साथ भी न्याय नहीं किया जा सकता। प्लेटो के मन-मस्तिष्क पर सुकरात का दर्शन और जीवन इस सीमा तक हावी था कि वह प्रश्नों के उत्तर सुकरात ही की ओर से देता चलता है। जैसे-जैसे समय आगे बढ़ा, प्लेटो के सिद्धान्तों की आलोचना होने लगी। उन सिद्धान्तों के विकास की कहानी पाश्चात्य काव्य शास्त्र का इतिहास बनती चली गई।

प्लेटो यह मानता है कि ईश्वर पूर्ण आदर्श है, उसमें कोई कमी नहीं है इसीलिए मनुष्य द्वारा ईश्वर और उसकी रचना के विषय में जो कुछ कहा जा सका वह अधूरा और नकली होगा।

यह संसार नश्वर और परिवर्तनशील है। ईश्वर ने इसकी रचना की है। दार्शनिक इस नश्वर संसार से मनुष्य को अनश्वर ईश्वर की ओर ले जाता है तब भी कवि इसी असत्य संसार के चित्र बनाने में ही व्यस्त रहता है। उदाहरण के लिए संसार में लाल वस्तुएं तो बहुत सी होती हैं किन्तु लालिमा तो एक ही है। इसी प्रकार सुन्दर वस्तुएँ तो बहुत सी हैं किन्तु शाश्वत सत्य तो एक ही है। इस शाश्वत सत्य की छाया उन सांसारिक अनित्य तत्त्वों में होती है तथा कवि या चित्रकार उन अनित्य तत्त्वों का चित्रण करता है इसलिए चित्रकार एवं कवि हमें सत्य से तीन दर्जे दूर ले जाता है क्योंकि वह एक सत्य के बाद, दूसरे सत्य से होता हुआ तीसरे की रचना करता है। इसीलिए कवि का सत्य वास्तविक सत्य नहीं हो सकता।

11.5 प्लेटो : प्रेरणा का सिद्धान्त

सभी आलोचक तथा कवि मानते हैं कि कवि का व्यक्तित्व सामान्य मनुष्यों से अलग प्रकार का होता है। कवि अधिक संवेदनशील होता है। उसकी अनुभूति गहन होती है तथा भाव, विचार और कल्पना की दृष्टि से वह विशिष्ट प्राणी होता है। आत्माभिव्यक्ति, सामाजिक सरोकारों के प्रति सजगता आदि कारण काव्य-रचना का मूल माने जाते हैं। मानवीय भावों और संवेदनाओं का परिष्कार भी कला और कविता का लक्ष्य माने जाते हैं।

प्लेटो भी यह स्वीकार करता है कि कवि सामान्य जनों से अलग व्यक्तित्व का स्वामी होता है। किन्तु प्लेटो इस विशिष्टता को कवि का अच्छा गुण न मान कर, इसे ऐसी विशेषता मानता है जो कवि को असामान्य मनुष्य बना देती है। प्लेटो इस सीमा तक चला जाता है कवि के असामान्य व्यवहार को वह पागलपन के समकक्ष मान लेता है।

पश्चिमी काव्य-सिद्धान्तों के अध्ययन के लिए यूनानी दार्शनिक प्लेटो (समय : 427-347 ई० पू०) को प्रथम बिन्दू स्वीकार किया जाता है। उसके समय साहित्य में होमर के महाकाव्य ईलियड तथा ओडिसी लोकप्रसिद्ध थे, विद्वानों द्वारा समादृत थे। इन महाकाव्यों के अतिरिक्त अनेक लेखक दुखांत नाटक लिख रहे थे जिन्हें ट्रैजिडी (या त्रासदी) का नाम दिया जाता है। इनमें से कुछ लेखकों ने प्लेटो के गुरु सुकरात को मृत्यु-दण्ड देने में प्रमुख भूमिका निभाई थी। स्वभावतः प्लेटो इन लेखकों का प्रशंसक नहीं बन सकता था।

प्लेटो की मान्यता थी कि रचना के क्षणों के समय कवि एक आंतरिक प्रेरणा (Inspiration) के वशीभूत होता है। उस समय उसका चिन्तन एक सामान्य विवेकशील मनुष्य जैसा नहीं होता। रचना के क्षणों में कवि की दशा एक पागल मनुष्य जैसी होती है। ऐसे असामान्य, पागलाए मनुष्य की रचना समाज के लिए लाभप्रद नहीं हो सकती। जब एडिमेंटास नामक शिष्य पूछता है कि होमर जैसे महाकवियों का अपराध क्या है, जब विश्व होमर को महान कवि मानता है तो हमी उसी के प्रति दुराग्रह क्यों रखें, तो उसे सहज उत्तर मिलता है कि राज्य की स्थापना और काव्य-रचना दो अलग विषय हैं।

प्लेटो के पश्चात अरस्तू ने भी इस प्रश्न पर विचार किया किन्तु कवि की जिस कल्पना शक्ति की प्लेटो ने भर्त्सना की थी, अरस्तू ने उसे कविता का अनिवार्य कारण मान लिया। कल्पना और आन्तरिक प्रेरणा दैवी वरदान हो सकते हैं किन्तु इन्हें मात्र इसलिए हेय नहीं माना जा सकता कि इन के बल पर कवि अपनी रचनाओं की सृष्टि करता है।

अरस्तू ने माना कि कला के अस्तित्व की सार्थकता इसी बात में है कि वह कवि की कल्पनाशक्ति को आकार प्रदान करे।

प्लेटो कविता को अंतःप्रेरणा (Inspiration) का परिणाम मानता है और इस प्रेरणा की स्थिति को वह विक्षिप्तावस्था या पागलपन की दशा मानता हुआ ऐसे व्यक्ति की अभिव्यक्ति को वह विवेकशील मनुष्यों के समाज के लिए हानिकारक घोषित करता है। वास्तव में यूनानी काव्य परंपरा में कवि तथा कविता के प्रस्तोता या गायक अलग-अलग हुआ करते थे। यदि होमर अपने आपको ईश्वरीय प्रेरणा से युक्त मानता था तो यही अवधारणा उन व्यक्तियों के साथ भी जुड़ी थी जो कविता को गाकर सुनाते थे। ये 'रैजोड़' काव्य-संप्रेषण के मुख्य माध्यम थे। होमर स्वयं घुमन्तू कवि-गायक था। यह तो सर्वस्वीकृत है कि कवि विशेष क्षणों में ही उत्कृष्ट कविता की रचना करता है। उसे कवि की विशेष क्षमता कहा जा सकता है, मानसिक शक्ति माना जा सकता है या फिर दैवी प्रेरणा। प्लेटो इसे अंतः प्रेरणा (Inspiration) मानता है।

यह भी विचित्र तथ्य है कि प्लेटो देवी-देवताओं के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। कम-से-कम वह देवी-देवताओं से जुड़े आख्यांश को सामाजिक स्वीकृत देने के पक्ष में नहीं है किन्तु वह एक काव्य देवी की संकल्पना करता है जिसके प्रभाव से कवि काव्य-रचना में समर्थ होता है।

यह मानना ही होगा कि कवि की प्रतिभा विशिष्ट होती है। उत्कृष्ट काव्य-रचना की क्षमता जन्मजात होती है। पढ़ाई-लिखाई से इस का कोई सरोकार नहीं होता। यह तथ्य होमर, सूरदास और कबीर जैसे कवियों पर एक जैसा लागू होता है। याद रखना होगा कि काव्य देवी का प्रभाव, कल्पना, प्रतिभा, अंतःप्रेरणा में स्पष्ट अंतर है किन्तु यह मानना पड़ता है कि कविता की रचना की मनोभूमि एक असाधारण या असामान्य अवस्था है। इसे विशिष्ट अवस्था भी कहा जा सकता है जिसका अनुभव कवि ही कर सकता है। काव्य देवी के प्रभाव से उत्पन्न आवेग या उन्माद कवि और काव्य वाचक से होता हुआ श्रोता तक पहुंचता है। प्लेटो के अंतःप्रेरणा संबंधी विवेचन से विदित होता है कि काव्य देवी के प्रभाव से कवि विक्षिप्तता या उन्माद या आदेश की स्थिति में पहुंच जाता है। यही क्षण काव्य-रचना के क्षण होते हैं। इनका प्रभाव समाज पर शुभ या अशुभ होता है। इस का सीधा संबंध रचनाकार से नहीं होता। तो भी प्लेटो कुछ नीतिपरक, चरित्र-निर्मापक उलटे ईश्वरीय प्रार्थनाओं को छोड़कर शेष काव्य को अपनी कल्पना के राज्य में स्थान देने का पक्षधर नहीं है।

होमर जैसे कवियों के काव्यों में देवी-देवताओं का चरित्र क्षुद्र और पतित है। उनमें हिंसा है, वे झूठ बोलते हैं, धोखा देते हैं, मानव के दुःख और विपत्ति पर हर्षित होते हैं तथा परस्पर द्वेष और प्रतिहिंसा से भरे हुए हैं। यह स्पष्टतः प्लेटो के युग में देवी या देवता का स्वरूप नैतिक दृष्टि से आदर्श नहीं था।

11.6 सारांश :

निष्कर्ष यह है कि प्लेटो कवि को एक असामान्य प्राणी मानता है। उसकी प्रतिभा को वह कोई महत्त्व नहीं देता। प्लेटो की दृष्टि कविता के सामाजिक सरोकारों से जुड़ी है। कवि को एक विचित्र प्रेरणा के वशीभूत हुआ प्राणी मानकर, प्लेटो काव्य रचना को सत्य की अशुभकारी अनुकृति मानता है।

11.7 कठिन शब्द :

- | | |
|----------------|------------|
| 1. अवस्थित | 2. सोपान |
| 3. दुर्भावनाओं | 4. प्रारूप |
| 5. अन्वेषक | 6. परिधि |
| 7. अनित्य | 8. शाश्वत |
| 9. विक्षिप्तता | 10. समादृत |

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न :

प्र1. प्लेटो के अनुकरण सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

प्र2. प्लेटो के काव्य-सत्य संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए।

प्र3. प्लेटो के प्रेरणा सिद्धांत की महत्वपूर्ण बातें लिखिए।

11.9 संदर्भ ग्रंथ/पुस्तकें

1. निर्मला जैन – प्लेटों के काव्य सिद्धांत
2. देवेन्द्रनाथ शर्मा – पाश्चात्य काव्यशास्त्र
3. राम अवध द्विवेदी – साहित्य सिद्धांत
4. निर्मला जैन, कुसुम बाँटिया – पाश्चात्य साहित्य चिंतन

अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त

- 12.0 रूपरेखा
- 12.1 उद्देश्य
- 12.2 प्रस्तावना
- 12.3 अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त
- 12.4 अरस्तू : (क) काव्य सत्य (ख) काव्य प्रयोजन
- 12.5 सारांश
- 12.6 कठिन शब्द
- 12.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 12.8 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

12.1 उद्देश्य :

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- अरस्तू के काव्य सत्य एवं काव्य प्रयोजन से संबंधित विचारों से अवगत होंगे।
- त्रासदी संबंधी विचारों को जानेंगे।

12.2 प्रस्तावना :

प्लेटो ने काव्य को राजनीति तथा नीतिशास्त्र के एक उपकरण के रूप में देखा था जब कि अरस्तू ने काव्य को काव्य ही के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित किया। अरस्तू ने कविता को कविता, महाकाव्य को महाकाव्य और नाटक को नाटक समझ कर उनका विवेचन किया इसलिए उसका विवेचन प्लेटो के विवेचन से अधिक स्पष्ट तथा वस्तुनिष्ठ है।

12.3 अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त :

अरस्तू ने कवि को अनुकरणकर्ता ही नहीं, सर्जक स्वीकार किया। मेमिसिज (Mimesis) या अनुकरण से प्लेटो का अभिप्राय ऐसी प्रक्रिया से था जो कवि को सत्य से दूर ले जाती है किन्तु अरस्तू ने काव्य-सत्य को प्रकृति के सत्य से श्रेयस्कर तथा सुन्दर मान लिया। अरस्तू की मान्यता थी कि कवि अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा प्रकृति की त्रुटियों को दूर करके एक निर्दोष कृति की रचना करता है।

इस प्रकार अरस्तू पहला आलोचक था जिसने काव्य-रचना के लिए कल्पना तथा अनुकरण के महत्त्व को स्वीकार किया। नाटक को कार्य की अनुकृति मानते हुए अरस्तू ने उसके दो भेद किए। कॉमेडी (Comedy) और ट्रैजिडी (Tragedy)।

ट्रैजिडी को उसने साहित्य की सर्वश्रेष्ठ विधा माना। इसकी परिभाषा अरस्तू ने इस प्रकार की :

ट्रैजिडी एक ऐसे कार्य की अनुकृति है जो गंभीर तथा पूर्ण होता है...। यह (दर्शक के हृदय में) करुणा तथा भय के भावों का उद्रेक करके (कुत्सित) मनोवेगों का विरेचन करती है।

विरेचन (मूल कथारसिस, अंग्रेजी Purgation) आयुर्विज्ञान का शब्द है। इस धारणा के अनुसार शरीर पर किसी औषधि का प्रभाव तब तक नहीं हो सकता जब तक हानिकारक तत्वों का विरेचन नहीं किया जाता।

ट्रैजिडी दर्शक (या सामाजिक) के हृदय का शोधन करके उसे एक स्वस्थ स्थिति प्रदान करती है।

अरस्तू के अनुसार मनुष्यों को यथार्थ से श्रेष्ठ निकृष्ट या यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। पहला विकल्प ही ट्रैजिडी लेखक का होता है।

ट्रैजिडी की सफलता के लिए आवश्यक है कि नायक आश्चर्यजनक ढंग से न्याय तथा अच्छाई का पक्षधर होना चाहिए। जब इस प्रकार के नायक की हानि होती है तो इस का कारण नायक का अपना दुर्गुण नहीं होता अनायास गलती हो जाने से नायक का पतन होता है और इसी पतन को 'दुखांत' संज्ञा दी जाती है। यदि नायक में कोई दुर्गुण होगा तो उसका पतन दुखांत नहीं बन पाएगा।

ट्रैजिडी के विपरीत कॉमेडी में दोषपूर्ण चरित्रों की नकल की जाती है। ये चरित्र अपने दुर्गुणों के कारण हास्यास्पद स्थितियों को जन्म देते हैं।

गंभीर (ट्रैजिडी) लेखक चरित्रों का आदर्शीकरण करता है जब कि कॉमेडी का लेखक मानव-प्रकृति के दोषों को पूरी नग्नता के साथ और प्रायः बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करता है।

ध्यान रखना होगा कि ट्रैजिडी की परिभाषा में ही अरस्तू का प्रसिद्ध विरेचन सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है।

विरेचन या शोधन का अर्थ है मनुष्य के अंतःकरण का शोधन! मानव-मन में अनेक कुत्सित भाव या विकार विद्यमान रहते हैं। ट्रैजिडी में न्यायप्रिय, सत्यनिष्ठ नायक का पतन देख कर दर्शक के हृदय में करुणा (Pity) तथा भय (Tear) की उत्पत्ति होती है और फलस्वरूप अन्तःकरण का शोधन हो जाता है। प्रश्न हो सकता है क्या ट्रैजिडी

दर्शक के मन में नए भावों का उद्रेक करती है? उत्तर है कि ट्रैजिडी का काम नए भावों का उद्रेक करना नहीं है। ट्रैजिडी अन्तःकरण की शुद्धि करके एक स्वस्थ स्थिति प्रदान करती है।

ध्यान रखना होगा कि ट्रैजिडी का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना नहीं है। यह दर्शक के मन में वेदना या पीड़ा उत्पन्न करके अवांछित भावों या मनोविकारों का विरेचन करती है। ट्रैजिडी का नायक आदर्श, श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न होता है। किसी प्राकृतिक आपदा अथवा नायक की भूल द्वारा उस (नायक) का पतन दिखा कर ट्रैजिडी दर्शक के मन में सहानुभूति उत्पन्न करती है। यदि नायक श्रेष्ठ गुणों से युक्त नहीं होगा तो रचना ट्रैजिडी नहीं बनेगी। इसी प्रकार यदि नायक का पतन चरित्र अथवा व्यवहारगत त्रुटि के कारण होगा, तो भी रचना दुखांत नहीं बनेगी। ऐसी स्थितियों में दर्शक के अन्तःकरण में करुणा तथा भय के भाव उत्पन्न नहीं होंगे, फलस्वरूप विरेचन की सिद्धि नहीं होगी।

12.4 अरस्तू : (क) काव्य सत्य और (ख) काव्य प्रयोजन

प्लेटो के लिए काव्य—सत्य ईश्वरीय सत्य था। धरती पर इस सत्य का प्रारूप संभव ही नहीं था। इसीलिए उसने कवि और कलाकार को मिथ्याचार अनुकरण कर्ता घोषित करते हुए कहा कि कला सत्य का अनुकरण करती है और सत्य से तीन सोपान दूर होती है।

काव्य के प्रयोजन के संदर्भ में भी प्लेटो कवियों को क्षमा करने के पक्ष में नहीं था। कवि देवी—देवताओं के मिथ्या भ्रमपूर्ण चित्र प्रस्तुत करके युवकों के चरित्रों पर कलुषित प्रभाव डालते थे। अन्तः प्रेरणा के वशीभूत होकर कवि ऐसी कृतियों की रचना करते थे जो सत्य तथा यथार्थ दोनों से दूर होती थीं।

अरस्तू ने कवि को धार्मिक उपदेशक या राजनीति के साधन के रूप में नहीं देखा उसने ट्रैजिडी को साहित्य का श्रेष्ठ रूप मान कर मानव हृदय का विरेचन करना उसका मुख्य उद्देश्य मान लिया।

Tragedy, then, is an imitation of an action that is serious... through pity and fear affecting the proper purgation of these emotions.

करुणा और भय अरस्तू की विरेचन प्रक्रिया के मुख्य साधन थे। इन भावों को दर्शक के हृदय में उद्रेक करके, वह कलुषित भावों का निष्कासन करने में विश्वास करता था।

Katharsis provides a safe outlet for distrustful passions, which siphons off (bad emotions) and thus it produces a better state of mind.

अरस्तू के अनुसार कविता हमें उससे कुछ अधिक देती है जो कुछ हमें प्रकृति दे सकती है। इस प्रकार कविता का सत्य प्रकृति के सत्य से अधिक प्रामाणिक और सुन्दर होता है।

वास्तव में काव्य सत्य को लेकर पाश्चात्य आलोचकों में प्लेटो से ही पर्याप्त विचार विनिमय होता रहा है। प्लेटो ने सर्वप्रथम यह सिद्ध करने का सफल प्रयास किया कि काव्य मूल सत्य से तिगुना दूर होता है। प्लेटो के अनुसार प्रकृति स्वयं में सत्य की अनुकृति है और कवि इस प्रकृति का अनुकरण करता है। इस प्रकार कवि मूल सत्य से बहुत दूर हो जाता है। अरस्तू ने काव्य सत्य की चर्चा करने से पहले यह बताने का प्रयास किया है कि काव्य सत्य

और वस्तु सत्य (वैज्ञानिक सत्य) दो अलग-अलग अवधारणाएँ हैं। प्लेटो ने इस प्रकार का कोई भेद-निरूपण नहीं किया था।

अरस्तू ने काव्य सत्य को लेकर गम्भीर विश्लेषण का परिचय दिया है। काव्य सत्य का विवेचन करते हुए अरस्तू सर्वप्रथम काव्य सत्य और ऐतिहासिक सत्य के मध्य के भेद का वर्णन करते हैं। उनके अनुसार— “कवि का कर्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है उसका वर्णन करना नहीं है वरन् जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के अधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है।” इतिहासकार घटित हुई घटनाओं का ब्यौरेवार वर्णन करता है जबकि कवि उन घटनाओं का वर्णन करता है जो घट सकती हैं।

असंभावनाओं को कविता में तीन कारणों से स्थान दिया जा सकता है।

क) कलागत आवश्यकता

ख) भव्यतर सत्य की प्रतिष्ठा

ग) परंपरागत धारणा या विश्वास

लेकिन अपने गंभीर विवेचन का परिचय देते हुए अरस्तू कहता है

1. जो कुछ विवेक सम्मत न हो, उसे कहने से बचना चाहिए।
2. असंभाव्य को इस रूप में प्रस्तुत किया जाये कि वह दर्शक को बिलकुल व्यर्थ न लगे।

संभाव्य असंभाव्य की अपेक्षा असामान्य को वरीयता नहीं दी जा सकती। अर्थात् कवि ऐसे तत्त्वों को स्थान दे सकता है जो असंभव हो किन्तु दर्शक-पाठक उन्हें संभाव्य समझ सकें।

अरस्तू का प्रयोजन कॉमेडी और ट्रेजिडी के भेद से भी स्पष्ट होता है। कॉमेडी हास्य उत्पन्न करके रह जाती है जब कि ट्रेजिडी मानव-मन का परिष्कार करती है।

ध्यान रखना होगा कि जहाँ अरस्तू वस्तुजगत में असम्भव को काव्य में प्रवेश की अनुमति देते हैं वे ऐसी घटनाओं का निषेध करते हैं जोकि विवेक संगत न हों। सच्चाई यह है कि जो कुछ विवेक संगत नहीं है, उसे मनुष्य स्वीकार नहीं करता और उसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं रह पाता।

त्रासदी की परिभाषा देते हुए अरस्तू कहता है कि “त्रासदी किसी गम्भीर, स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है जो संभाषण रूप में न होकर-कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जाता है।”

इस प्रकार अनुकरण का अर्थ जीवन के निरूपण से है जो अंग्रेजी के ‘रिप्रेजेंटेशन’ शब्द के सर्वाधिक निकट है। त्रासदीकार के लिए जीवन के भौतिक अथवा वस्तु सत्य को ज्यों का त्यों उतारना अभीष्ट नहीं है।

12.5 सारांश :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अरस्तू साहित्य का प्रयोजन मानव-मन के भावों को परिशोधन करके एक श्रेष्ठ

समाज की रचना करना है। वह साहित्य और कवि को प्लेटो की भांति राज्य से बहिष्कृत नहीं करना चाहता।

अरस्तू कवि की कल्पना शक्ति की अभिव्यक्ति को भी साहित्य का प्रयोजन मानता है।

काव्य सत्य के संदर्भ में अरस्तू कवि की कृति को 'सत्य' की प्रतिष्ठा प्रदान करता है। इस प्रकार अरस्तू आगामी आलोचकों के लिए एक ऐसा पथ प्रशस्त करता है जहाँ कवि कलाकार को धर्म या राजनीति की कसौटी पर न कसकर वृहत्तर मानवीय सरोकारों के संदर्भ में मूल्यांकित किया जाए। वह मनुष्य के भावों के परिष्कार को महत्त्व देता है।

12.6 कठिन शब्द :

- | | |
|------------|-------------|
| 1. अनुकृति | 2. विरेचन |
| 3. प्रारूप | 4. उद्रेक |
| 5. कलुषित | 6. निष्कासन |
| 7. निरूपण | 8. परिशोधन |
| 9. वृहत्तर | 10. प्रयोजन |

12.7 अभ्यासार्थ प्रश्न :-

प्र1. अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।

प्र2. अरस्तू पर संक्षिप्त नोट लिखें।

प्र3. अरस्तू के काव्य सत्य को लेकर किए गए विश्लेषण पर प्रकाश डालिए ।

12.8 सन्दर्भग्रन्थ/पुस्तकें :

1. डॉ राम अवध द्विवेदी – साहित्य सिद्धांत ।
2. डॉ देवेन्द्रनाथ शर्मा – पाश्चात्य काव्यशास्त्र ।
3. डॉ नगेन्द्र – अरस्तू का काव्यशास्त्र ।

अरस्तू का विवेचन सिद्धान्त

- 13.0 रूपरेखा
- 13.1 उद्देश्य
- 13.2 प्रस्तावना
- 13.3 अरस्तू का विवेचन सिद्धान्त
- 13.4 सारांश
- 13.5 कठिन शब्द
- 13.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 13.7 सन्दर्भग्रन्थ/पुस्तकें

13.1 उद्देश्य :

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- अरस्तू के विवेचन सिद्धान्त को जान सकेंगे ।
- त्रासदी की अवधारणा से अवगत होंगे ।

13.2 प्रस्तावना :

अरस्तू प्लेटो का शिष्य था किन्तु प्रायः वह अपने दार्शनिक गुरु के सिद्धान्तों के प्रति शंकालु हो उठता था। ये शंकाएं प्लेटो के 'रिपब्लिक' में ही आरंभ हो गई थीं किन्तु अपनी कृति 'पोयटिक्स'(Poetics) में अरस्तू प्लेटो के अनेक सिद्धान्तों का विरोध करने लगता है।

प्लेटो ने काव्य को राजनीति तथा नीतिशास्त्र के एक उपकरण के रूप में देखा था जब कि अरस्तू ने काव्य को काव्य ही के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित किया। अरस्तू ने कविता को कविता, महाकाव्य को महाकाव्य और नाटक समझ कर उनका विवेचन किया इसलिए उसका विवेचन प्लेटो के विवेचन से अधिक स्पष्ट तथा वस्तुनिष्ठ है।

ट्रैजिडी को उसने साहित्य की सर्वश्रेष्ठ विधा माना है। इसकी परिभाषा अरस्तू ने इस प्रकार की :

ट्रैजिडी एक ऐसे कार्य की अनुकृति है जो गंभीर तथा पूर्ण होता है....। यह (दर्शक के हृदय में) करुणा तथा भय के भावों का उद्रेक करके (कुत्सित) मनोवेगों का विरेचन करती है।

13.3 अरस्तू का विरेचन सिद्धांत :

विरेचन (मूल कथारसिस, अंग्रेजी Purgation) आयुर्विज्ञान का शब्द है। इस धारणा के अनुसार शरीर पर किसी औषधि का प्रभाव तब तक नहीं हो सकता जब तक हानिकारक तत्वों का विरेचन नहीं किया जाता। ट्रैजिडी दर्शक (या सामाजिक) के हृदय का शोधन करके उसे एक स्वस्थ स्थिति प्रदान करती है।

अरस्तू के अनुसार मनुष्यों को यथार्थ से श्रेष्ठ या निकृष्ट (अथवा जस का तस) प्रस्तुत किया जा सकता है। पहला विकल्प ट्रैजिडी लेखक का होता है, दूसरा कामेडी लेखक का। ट्रैजिडी की सफलता के लिए आवश्यक है कि नायक आश्चर्यजनक ढंग से न्याय तथा अच्छाई का पक्षधर होना चाहिए। जब इस प्रकार के नायक की हानि होती है तो इस का कारण नायक का अपना दुर्गुण नहीं होता। अनायास गलती हो जाने से नायक का पतन होता है और इसी पतन को 'दुखांत' संज्ञा दी जाती है। यदि नायक से कोई गलती न होगी तो उसका पतन दुखांत नहीं बन पाएगा।

ध्यान रखना होगा कि ट्रैजिडी की परिभाषा में ही अरस्तू का प्रसिद्ध विरेचन सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है।

विरेचन या शोधन का अर्थ है मनुष्य के अंतःकरण का शोधन। मानव-मन में अनेक कुत्सित भाव या विकार विद्यमान रहते हैं। ट्रैजिडी में न्यायप्रिय, सत्यनिष्ठ नायक का पतन देख कर दर्शक के हृदय में करुणा (Pity) तथा भय (Tear) की उत्पत्ति होती है और फलस्वरूप अन्तःकरण का शोधन हो जाता है। प्रश्न हो सकता है कि क्या ट्रैजिडी दर्शक के मन में नए भावों का उद्रेक करती है? उत्तर है कि ट्रैजिडी का काम नए भावों का उद्रेक करना नहीं है। ट्रैजिडी अन्तःकरण की शुद्धि करके एक स्वस्थ स्थिति प्रदान करती है।

ट्रैजिडी का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना नहीं है। यह दर्शक के मन में वेदना या पीड़ा उत्पन्न करके अवांछित भावों या मनोविकारों का विरेचन करती है। ट्रैजिडी का नायक आदर्श, श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न होता है। किसी प्राकृतिक आपदा अथवा नायक की भूल द्वारा उस (नायक) का पतन दिखा कर ट्रैजिडी दर्शक के मन में सहानुभूति उत्पन्न करती है। यदि नायक श्रेष्ठ गुणों से युक्त नहीं होगा तो रचना ट्रैजिडी नहीं बनेगी। इसी प्रकार यदि नायक का पतन चरित्र अथवा व्यवहारगत त्रुटि के कारण होगा, तो रचना दुखांत नहीं बनेगी। ऐसी स्थितियों में दर्शक के अन्तःकरण में करुणा तथा भय के भाव उत्पन्न नहीं होंगे, फलस्वरूप विरेचन की सिद्धि नहीं होगी।

13.4 सारांश :

कला और साहित्य के द्वारा हमारे दूषित मनोविकारों का उचित रूप से विरेचन हो जाता है। सफल त्रासदी विरेचन द्वारा करुणा और त्रास के भावों को उदबुद्ध करती है, उनका सामंजन करती है और इस प्रकार आनंद की भूमिका प्रस्तुत करती है।

13.5 कठिन शब्द :

- | | |
|-----------------|-------------|
| 1. परिप्रेक्ष्य | 2. मनोवेग |
| 3. शोधन | 4. कुत्सित |
| 5. उद्रेक | 6. मनोविकार |

13.6 अभ्यासार्थ प्रश्न :

प्र1. अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए ।

प्र2. त्रासदी की अवधारणा पर प्रकाश डालिए ।

13.7 संदर्भ ग्रंथ / पुस्तकें :

1. डॉ. नगेन्द्र – अरस्तू का काव्यशास्त्र,
2. डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा – पाश्चात्य काव्यशास्त्र
3. डॉ. राम अवध द्विवेदी – साहित्य सिद्धान्त

लॉजाइनस : उदात्त सिद्धान्त

- 14.0 रूपरेखा
- 14.1 उद्देश्य
- 14.2 प्रस्तावना
- 14.3 लॉजाइनस : उदात्त सिद्धान्त
 - 14.3.1 उदात्त के स्रोत या साधक तत्व
- 14.4 सारांश
- 14.5 कठिन शब्द
- 14.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 14.7 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

14.1 उद्देश्य :

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- लॉजाइनस के उदात्त सिद्धान्त को जान सकेंगे।
- उदात्त के स्रोत या साधक तत्वों से अवगत होंगे।

14.2 प्रस्तावना :

काव्य पाठक को किस प्रकार प्रभावित करता है, यह प्रश्न सभी चिन्तकों और आलोचकों को चुनौती देता आया है।

यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने काव्य का मुख्य कारण कवि की आंतरिक प्रेरणा (Inspiration) माना और नैतिक मूल्यों की स्थापना कवि का मुख्य उद्देश्य निर्धारित किया। प्लेटो ने कवि की कल्पना-शक्ति को ऐसे उपकरण के रूप में देखा जो काव्य को सत्य से दूर ले जाती है। अरस्तू ने कल्पना को साहित्य-सृजन के लिए अनिवार्य घोषित करके

त्रासदी को साहित्य की सर्वश्रेष्ठ विधा स्वीकार किया और वेदना प्रदान करके विरेचन की सिद्धि करना इसका एकमात्र लक्ष्य निर्दिष्ट किया। उसके अनुसार कलुषित भावों का विरेचन करके ही साहित्य अपने लक्ष्य को सिद्ध करता है। इस प्रक्रिया में पाठक वेदना की प्रक्रिया से गुजरता है। लॉजाइनस ने पूर्व परम्परा को नया मोड़ देते हुए तर्क दिया कि काव्य वेदना नहीं, आनन्द प्रदान करता है। साथ ही उसने यह भी माना कि अन्तः प्रेरणा कवि की विलक्षण प्रतिभा है जो श्रेष्ठ कविता के सृजन का कारण बनती है।

14.3 लॉजाइनस : उदात्त सिद्धांत

“उदात्त” अंग्रेजी शब्द “सब्लाइम”(Sublime) का हिन्दी अनुवाद है। साधारण भाषा में इसके लिए अंग्रेजी के Height, Elevation जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी में ऊँचाई, उत्थान महानता इसके समानार्थी शब्द हैं।

इस प्रकार ‘उदात्त’ का अभिप्राय कवि की उस क्षमता से है जो पाठक के पूर्व व्यक्तित्व में एक प्रकार का विस्फोट करके, निम्न स्थिति से कहीं ऊँची स्थिति पर ले जाती है। कविता पढ़ते ही पाठक के व्यक्तित्व में आमूल परिवर्तन होता है। उदात्तीकरण की प्रक्रिया में कविता पाठक के मनोमस्तिष्क पर कुछ ऐसा प्रभाव डालती है जैसे विद्युत अथवा वज्रपात Thunder bolt के फलस्वरूप उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है तथा प्राणी को वज्राघात सहना पड़ता है, उसे असहाय वेदना भोगनी होती है। काव्यास्वादन की सामान्यतः ग्रहीत व्याख्या के अनुसार यह प्रक्रिया वेदना या त्रासदायक न होकर आनन्द प्रदायक होती है इस प्रक्रिया में अध्यात्मवादियों के अनुभव के अनुरूप पुराने व्यक्तित्व का विस्फोट होता है और पाठक को अतीव आनन्द की अनुभूति प्रदान करता हुआ काव्य उसे एक उदात्त भावभूमि पर प्रतिष्ठित करता है।

लॉजाइनस का मानना है कि कवि किसी प्रकार की तार्किक शक्ति का सहारा नहीं लेता। कविता पाठक को सम्मोहित सा करके उसका व्यक्तित्वांतरण करती है। कविता का प्रभाव किसी एक प्रदेश अथवा वर्ग के पाठकों तक सीमित नहीं रहता। किसी भी व्यवसाय से संबद्ध पाठक एक अच्छी कविता से समान रूपेण प्रभावित होता है। कविता एक बार आनन्द प्रदान करके अपना प्रभाव खो नहीं देती। प्रत्येक आस्वादन में उदात्त की प्रक्रिया घटित होती है और पाठक आनन्द विभोर होता है। इस प्रकार लॉजाइनस मानता है कि कविता का आस्वादक कोई विशेष व्यक्ति नहीं होता।

14.3.1 उदात्त के स्रोत या साधक तत्त्व

लॉजाइनस उदात्त के पांच स्रोत स्वीकार करता है :

1. विचार-वैभव
2. उदात्त आवेग
3. भावाई उपकरणों का समुचित प्रयोग
4. भव्य शैली
5. गरिमापूर्ण रचना

लॉजाइनस के अनुसार उदात्ता आत्मा की महानता की प्रतिध्वनि है। महान कविता उन्हीं मनुष्यों द्वारा रची जा सकती है जिनकी आत्मा महान् हो। महान् आत्मा ही महान् विचारों की उत्प्रेरक होती है। जिस कविता में विचारों की महानता नहीं होगी, वह उदात्त की सिद्धि नहीं करवा सकेगी।

आवश्यक है कि आवेग या भाव सच्चे हों तथा स्थान पर व्यक्त किए जाएँ। यह भी याद रखना होगा कि महान् भावनाएँ महान् हृदयों में ही निवास करती हैं। भाव सच्चे होने चाहिए तथा आवश्यक है कि वे जीवन के सत्यों का उद्घाटन करें।

भाषाई प्रविधियों के प्रयोग पर कवि का पूर्ण अधिकार होना आवश्यक है। यद्यपि कविता एक लिखित रचना है तथापि इसकी रचना एक वाचन योग्य कृति के रूप में होनी चाहिए, वाचन द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता से कविता उदात्त की सिद्धि करवाती है।

कवि को सतर्क रहना चाहिए कि उसकी अभिव्यक्ति अस्पष्ट न हो जाए। इसके लिए वह अपने कथन को विस्तार दे सकता है किन्तु अतिरंजना से उदात्त को हानि पहुँचती है।

शब्दों और उपमाओं के प्रयोग की ओर कवि को विशेष ध्यान देना होता है। विषय के अनुसार ही शब्द तथा अन्य अलंकरण प्रयुक्त किए जाते हैं। महान विषय के लिए निकृष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। ऐसा करने से उदात्त की साधना में बाधा पहुँच सकती है।

गरिमापूर्ण रचना का अर्थ यह है कि शब्दों का क्रम विषयानुकूल होना चाहिए। शब्दों तथा पदों के उपयुक्त प्रयोग द्वारा कविता को एक लयात्मक पूर्ण इकाई के रूप में संरचित करना होगा। यदि कविता एक 'पूर्ण' के रूप में नहीं होगी तो इसका पठन या वाचन वह प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाएगा जो काव्य का एकमात्र उद्देश्य है और जिसे 'उदात्त' की संज्ञा से मंडित किया जाता है।

14.4 सारांश :

लॉजाइनस ने उदात्त के प्रभाव को सार्वभौम माना है। उदात्त का लक्ष्य है मनुष्य का नैतिक उन्नयन। उदात्ता आत्मा की महानता की प्रतिध्वनि है।

14.5 कठिन शब्द :

- | | |
|--------------|---------------|
| 1. निर्दिष्ट | 2. अतिरंजना |
| 3. विलक्षण | 4. संरचित |
| 5. ग्रहीत | 6. प्रतिध्वनि |
| 7. प्रविधि | |

14.6 अभ्यासार्थ प्रश्न :

प्र1. लॉजाइनस के उदात्त सिद्धान्त का वर्णन कीजिए ।

प्र2. उदात्त के स्रोतों पर प्रकाश डालिए ।

14.7 संदर्भ ग्रंथ/पुस्तकें :

1. डॉ. निर्मला जैन – उदात्त के विषय में
2. डॉ. नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन – काव्य में उदात्त तत्व

ड्राइडन-त्रासदी की अवधारणा

- 15.0 रूपरेखा
 - 15.1 उद्देश्य
 - 15.2 प्रस्तावना
 - 15.3 प्लेटो की त्रासदी संबंधी अवधारणा
 - 15.4 त्रासदी – अर्थ एवं परिभाषा
 - 15.5 त्रासदी के अंग
 - 15.6 त्रासदी के संगठन सम्बन्धी अंग
 - 15.7 जॉन ड्राइडन : त्रासदी की अवधारणा
 - 15.7.1 परिचय एवं रचनाएं
 - 15.7.2 त्रासदी विषयक विचारधारा
 - 15.8 ड्राइडन और अरस्तु की त्रासदी संबंधी परिभाषा में साम्य
 - 15.9 सारांश
 - 15.10 कठिन शब्द
 - 15.11 अभ्यासार्थ प्रश्न
 - 15.12 सन्दर्भग्रन्थ/पुस्तकें
- 15.1 उद्देश्य**
- प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप
- प्लेटो के त्रासदी संबंधी अवधारणा से अवगत हो सकेंगे।
 - त्रासदी के अर्थ एवं परिभाषा के साथ उसके अंगों की विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे।

- जान ड्राइडन की त्रासदी संबंधी अवधारणा से अवगत हो सकेंगे।
- ड्राइडन की त्रासदी की परिभाषा अरस्तू से पूर्णतः साम्य रखती है इसकी जानकारी प्राप्त करेंगे।

15.2 प्रस्तावना

पाश्चात्य काव्य शास्त्र में अरस्तू की प्रेरणा के फलस्वरूप त्रासदी विवेचन की परम्परा प्रारम्भ हुई। पर अरस्तू से पूर्व उनके गुरु प्लेटो ने भी त्रासदी संबंधी अपने विचार दिए हैं।

15.3 प्लेटो की त्रासदी संबंधी अवधारणा

प्लेटो यह मानते हैं कि त्रासदी त्रास और करुणा के भाव जागृत करती है। उसने अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न त्रासदी से प्रेक्षक को आनन्द क्यों प्राप्त होता है पर अपना विचार प्रकट किया है। यद्यपि उनका मत असंतोषजनक है। उसका विचार है कि क्रोध, भय, द्वेष आदि भाव मूलतः त्रासदायक है, पर उसमें भी सुख देने की क्षमता होती है। उसने उदाहरण के लिए होमर का उद्धरण दिया है जहाँ वह क्रोध में सुख पाने की बात कहता है। उसने कहा है कि विलाप में भी आनन्दानुभूति होती है। इस प्रकार प्लेटो के त्रासदी सम्बन्धी विचार न तो पूर्ण ही है और न ही व्यवस्थित ही। वस्तुतः उसका उद्देश्य भी इस विषय का सम्पूर्ण विवेचन करना नहीं था। प्लेटो के बाद अरस्तू ने त्रासदी का गम्भीर और सर्वांगीण विवेचन किया है। जो निम्नलिखित है—

त्रासदी का विवेचन अरस्तू ने 'पेरि-पोइतिकेस' (पोइटिक्स अर्थात् काव्यशास्त्र) में किया। उसने न केवल त्रासदी की परिभाषा ही प्रस्तुत की, अपितु उसके तत्वों, उसके रूप और कार्यों पर भी विचार प्रकट किये। त्रासदी संबंधी अरस्तू के विचार निम्नलिखित हैं—

15.4 त्रासदी : अर्थ एवं परिभाषा

त्रासदी को दुखांत नाटक कहा गया है। अरस्तू के अनुसार – “त्रासदी किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा उन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।”

15.5 त्रासदी के अंग

अरस्तू त्रासदी के अनिवार्यतः छः अंग मानते हैं, जो उसके सौष्ठव का निर्धारण करते हैं – कथानक, चरित्र-चित्रण, पद-रचना, विचार-तत्व, दृश्य-विधान, गीत और अभिनय।

क. **कथानक**— त्रासदी के कथानक सम्बन्धी अरस्तू की तीन धारणाएं महत्वपूर्ण हैं— त्रासदी का एक निश्चित आयाम अथवा आकार होना चाहिए, एक निश्चित संरचना होनी चाहिए और कथानक ही नाटक की आत्मा है। कथानक का आकार पर्याप्त लम्बा होना चाहिए, ताकि एक कलात्मक सम्पूर्णता की भांति प्रेक्षकों अथवा पाठकों द्वारा ग्रहण किया जा सके। कथानक का आकार इतना हो कि त्रासदी रंगमंच पर

भली-भांति अभिनीत की जा सके फिर नाटक उतना ही लम्बा हो जितना कि मानव स्मृति की परिधि में आसानी से आ सके। कथानक संरचना में 'प्रारम्भ', 'मध्य' और 'अंत' बिल्कुल स्पष्ट तथा उचित कारणों और परिणामों के साथ जुड़ा होना चाहिए। कथानक में पूर्णता, एकांग्णिति, सहज विकास और कुतूहल के साथ-साथ संभाव्यता तथा अनिवार्यता के गुण होने चाहिए। कथानक का आधार दन्तकथामूलक, कल्पनामूलक और इतिहासमूलक कुछ भी हो सकता है। कथानक सरल अथवा जटिल हो सकता है पर श्रेष्ठ त्रासदी की रचना जटिल कथानक पर होती है क्योंकि जटिल कथानक में कार्य-व्यापार का विपर्यय अथवा स्थिति का उत्क्रमण तथा अभिज्ञान अथवा 'अज्ञान का अनावृत' होना पाया जाता है।

संकलनत्रय- कथानक की रचना में सहायक तत्व है अतः त्रासदी के कथानक में कार्य, स्थान एवं समय की एकता रहनी चाहिए। कार्य व्यापार की एकता से तात्पर्य घटनाओं का उल्लेख है। कथानक की रचना में सहायक सभी घटनाएं मात्र एक ही व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित होनी चाहिए जो उसके दुःखद अन्त के लिए उत्तरदायी हों। समय की एकता के संदर्भ में अरस्तू ने कहा है कि त्रासदी सूर्य के चक्कर तक की होनी चाहिए। स्थान की एकता के लिए अरस्तू ने कुछ भी व्यक्त नहीं किया है इसलिए स्थान और समय की एकता संबंधी कोई भी नियम, उन्होंने अच्छी त्रासदी के लिए अनिवार्य भी घोषित नहीं किया।

- ख. **चरित्र-चित्रण-** चरित्र में अरस्तू का तात्पर्य मात्र पात्रों से नहीं, वरन् वे चरित्र उसी पात्र को मानते हैं, जो स्वभाव अथवा व्यवहार के कुछ पृथक् लक्षण प्रदर्शित करें, वे लक्षण चाहे अच्छाई की ओर हों अथवा बुराई की ओर। चरित्र के संबंध में अरस्तू चार बातें महत्वपूर्ण मानते हैं- (क) चरित्र अच्छे अथवा सदाचारी हों, किंतु किसी भी तरह पूर्ण न हों। (ख) चरित्र उपयुक्त अथवा अपनी जाति के प्रति सच्चे हों। (ग) चरित्र वास्तविकता की तरह हों। (घ) चरित्र समानुरूप अथवा अविरोधी हों।

त्रासदी के नायक के विषय में अरस्तू का विचार है कि त्रासदी का नायक ऐसा होना चाहिए, जिसके कार्य-व्यवहार करुणा और त्रास के भावों का पाठकों अथवा दर्शकों में उद्रेक कर सके। त्रासदी के नायक का चरित्र सर्वांगीणतः पूर्ण नहीं होना चाहिए। वह मध्यम चरित्र का नैतिक दोषों से रहित होना चाहिए।

- ग. **विचार (थॉट)-** निश्चित परिस्थितियों में जो कुछ प्रासंगिक और सम्भव है, उसको कहने की क्षमता-शक्ति ही विचार है। त्रासदी में विचार वहीं प्रस्तुत किये जाते हैं, जहां किसी बात का अस्तित्व साबित करना हो अथवा जब किसी सिद्धांत-वाक्य या सूत्र को प्रतिपादित करना हो।
- घ. **कथन-शैली (डिक्शन)-** अर्थ की शब्दों में अभिव्यक्ति ही कथन-शैली है। अरस्तू के अनुसार त्रासदी की कथन-शैली परिस्थिति के अनुरूप और उचित होनी चाहिए, अर्थात् शोक, संवेदना, पश्चाताप आदि भावों की अभिव्यक्ति के अनुरूप ही शब्द चयन और कथन-शैली होनी चाहिए।

- ड. **गीत (सांग)**— त्रासदी में गीत योजना भी होनी चाहिए। त्रासदी के अलंकरण में, अरस्तू, गीतों को महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं।
- च. **अभिनय (स्पैक्टिकल)**— उपर्युक्त के अनुकरण का ढंग ही अभिनय है। अभिनय प्रेक्षक अथवा श्रोताओं को भावात्मक आकर्षण प्रदान करता है।

5.6 त्रासदी के संगठन सम्बन्धी अंग

1. **प्रस्तावना**— प्रस्तावना त्रासदी का वह संपूर्ण भाग है, जो गायक वृन्द के पूर्वगान से पहले रहता है। वास्तव में प्रस्तावना त्रासदी के उस आरम्भिक भाग का नाम है जो त्रासदी के लिए – विशेषतः उसकी कथावस्तु के लिए भूमिका प्रस्तुत करता है।
2. **उपाख्यान**— उपाख्यान वह समग्र अंश है, जो पूर्ण वृन्दगानों के बीच विद्यमान रहता है।
3. **उपसंहार**— उपसंहार त्रासदी का वह पूरा अंश है, जिसके बाद कोई वृन्दगान नहीं होता।
4. **वृन्दगान**— वृन्दगान के दो भाग हैं – पूर्वगान और उत्तरगान। पूर्वगान गायकवृन्द का पहला समवेत उच्चार है और उत्तरगान गायकवृन्द का वह सम्बोध गीत है जिसमें समण अथवा गुरु-लघु-द्विवर्णिक चतुष्पदी का प्रयोग न हो। स्पष्ट शब्दों में पूर्वगान पहला वृन्दगान है और उत्तरगान कदाचित् अन्तिम।

अतः यह सत्य है कि अरस्तू के विचार पूर्णतः संतोषजनक नहीं थे परन्तु उसने जो प्रश्न उठाये हैं वह मौलिक हैं। उनके प्रश्नों में आगामी विद्वानों को सोचने और तात्विक विश्लेषण करने की प्रेरणा दी है। इसीलिए ल्यूकस ने अरस्तू के ग्रंथ Poetics के सम्बन्ध में लिखा है—

“Those few pages ask if they do not answer almost all that we need to know.”

त्रासदी के संबंध में आगे चलकर जॉन ड्राइडन ने भी अरस्तू को सम्मुख रखते हुए अपने विचार दिए।

त्रासदी संबंधी जॉन ड्राइडन की अवधारणा पर आगे विचार किया जा रहा है—

15.7 जॉन ड्राइडन : त्रासदी की अवधारणा

15.7.1 परिचय एवं रचनाएं

आधुनिक अंग्रेजी आलोचना के जनक जॉन ड्राइडन का समय 1631 से 1700 तक माना जाता है। वे एक साथ कवि, नाटककार, व्यंग्यकार और अनुवादक थे पर आज उन्हें नवशास्त्रवादी आलोचक के रूप में जाना जाता है। इनका जन्म नार्थम्पटन शहर में हुआ। ट्रिनिटी कॉलेज केम्ब्रिज में उच्च शिक्षा प्राप्त की। इनका लेखन कार्य नाटक लेखन से आरंभ होता है। इनके प्रारम्भिक नाटकों में 'दि वाइल्ड गेलेंट' (1663) तथा 'द राइवल लेडीज' (1664) उल्लेखनीय हैं। सन् 1665 में उनका 'दि इंडियन इम्पेरर' नाटक विशेष रूप से विख्यात हुआ।

ड्राइडन सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के आलोचक थे। उन्होंने न केवल नाटक, वीर नाटक, काव्य-प्रयोजन, प्रहसन, कल्पना, अनुकरण आदि से सम्बद्ध गंभीर और शाश्वत प्रश्नों पर ही अपने विचार

प्रकट किए अपितु पुरातन कवियों की भी समीक्षा की। वे एक कवि-आलोचक थे। एक ओर उन्हें प्राचीन ग्रीक और रोमी साहित्य का ज्ञान था। दूसरी ओर तत्कालीन यूरोपीय साहित्य का। एक ओर वे शैक्सपियर, बैन-जॉनसन, प्लेचर के अध्येता थे तो दूसरी ओर अरस्तू, होरेस के कला सिद्धांतों के भी ज्ञाता थे। वास्तव में आलोचना के क्षेत्र में वे प्राचीन के प्रति निष्ठा रखते हुए भी नवीन की ओर आकृष्ट थे। आलोचना संबंधी उनकी महत्वपूर्ण रचना 'एन एसे आफ ड्रामाटिक पोइजी' (An Essay of Dramatic Poesy) है। इसके अतिरिक्त उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में कोई ग्रंथ नहीं लिखा। उनका आलोचक दृष्टिकोण उनकी विभिन्न काव्यकृतियों की भूमिकाओं तथा समर्पण-पत्रों में मिलता है। जिनका विवरण निम्नलिखित है-

भूमिका का शीर्षक	भूमिका में आलोचना का विषय
1. इपिसल डैडीकेटरी ऑफ दि राइवल लेडीज	नाट्य लेखन में हीरोइक कपलेट
2. डैडीकेशन टू एमस मिराबिलीज	वीर प्रधान काव्य लेखन में तुकांत चतुष्पदी के प्रयोग का औचित्य
3. दि एपोलाजी फार हीरोइक पोयट्री	महाकवि मिल्टन की प्रशस्ति
4. दि ग्राउंड्स् आफ क्रिटिसिज्म इन ट्रेजडी	अरस्तू की त्रासदी विषयक धारणाओं को अनावृत्त कर इस क्षेत्र में प्लेचर और शेक्सपीयर की निष्पत्तियों का विवेचन
5. ए डिसकोर्स कन्सर्निंग द ओरिजन एंड प्रोग्रेस ऑफ सेटायर	व्यंग्य के विषय में विचार
6. ए परेलल ऑफ पोयट्री एण्ड पेन्टिंग	काव्यकला संबंधी विचार
7. डैडीकेशन ऑफ दि एनीस	बर्जिल को दृष्टिगत रखते हुए महाकाव्य का विवेचन
8. प्रिफेस टू दि फेबिल्स	होमर, आविद, चासर और बोकेसियों के कथा साहित्य का रसास्वादन तथा मूल्यांकन
9. ए डिफेन्स आफ एन एसे ऑफ ड्रामाटि पोइजी	त्रासदी में तुकान्त द्विपदी का प्रयोग
10. ट्रेजडीस ऑफ दि लास्ज एज कन्सीडर्ड	त्रासदी विषयक विचार

ड्राइडन की समीक्षात्मक कृति तथा इन भूमिकाओं को पढ़ने पर ड्राइडन एक गम्भीर अध्येता के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे एक ऐसे समीक्षक थे जिसे ग्रीक एवं लैटिन की साहित्यिक परंपराओं का विस्तृत ज्ञान था। इसलिए उनके काव्य-परिभाषा, काव्य प्रयोजन, नाट्य कला, काव्य में कल्पना और लयात्मकता, काव्य और महाकाव्य, कामदी, कामदी और प्रहसन, व्यंग्य रचना और भाषा-शैली संबंधी दृष्टिकोणों का सवर्त्र

सम्मान हुआ है। प्रस्तुत पाठ में उनके त्रासदी संबंधी विचार जानना अपेक्षित है:

15.7.2 त्रासदी विषयक विचारधारा

ज़ाइडन की त्रासदी संबंधी अवधारणा प्रमुखतः ट्रॉयलस एण्ड क्रैसिडा की भूमिका 'दि ग्राउण्ड्स ऑफ क्रिटिसिज्म इन ट्रेजडी' में पायी जाती है। इसके अतिरिक्त 'डेडीकेशन ऑफ दि एनीस' तथा राइमर की 'ट्रेजडीस ऑफ दि लास्ट एज कन्सीडर्ड' में भी उनके त्रासदी संबंधी विचार मिलते हैं।

त्रासदी को पारिभाषित करते हुए 'दि ग्राउण्ड्स ऑफ क्रिटिसिज्म इन ट्रेजडी' में ज़ाइडन लिखते हैं: "त्रासदी एक महान्, सम्पूर्ण और सम्भाव्य कार्य व्यापार की अनुकृति का नाम है, जिसका अभिनय किया जाता है वर्णन अथवा कथन नहीं और जो हमारे मस्तिष्क से करुणा, और त्रास के मनोवेगों का उद्रेक कर विरेचन करने में सहायक होती है।" उनके त्रासदी के तत्वों सम्बन्धी विचार भी द्रष्टव्य है।

क. कथानक— त्रासदी के कथानक के विषय में ज़ाइडन लिखते हैं कि त्रासदी का विषय भ्रष्ट नहीं होना चाहिए। उदात्त विषय के कारण ही त्रासदी भय और करुणा के मनोवेगों का विरेचन कर सकती है।

ख. संकलनत्रय— त्रासदी के कथानक का एक महत्वपूर्ण तत्व है। संकलनत्रय के विषय में ज़ाइडन से 'कालान्विति और स्थानान्विति के 'पराधीनतापूर्ण निर्वाह' का उपहास किया है क्योंकि अन्वित – त्रय अनावश्यक रूप से नाटककार के कार्यक्षेत्र को सीमित करती है। उनकी यह भी धारणा है कि कालान्विति और स्थानान्विति का अति नियमनिष्ठ प्रयोग कथानक का विनाश कर देता है और कल्पना का ह्रास करता है। 'ए डिफेन्स आफ एन ऐसे ऑफ ड्रामाटिक पोयज़ी' में उन्होंने लिखा है कि "कालान्विति का अति नियमनिष्ठ प्रयोग यह होना चाहिए कि कथानक का समय और अभिनय का समय एक ही हो अर्थात् कथानक के अनुसार किसी घटना क्रम के घटित होने में जितना समय लगा है, उतना ही समय उस घटना के अभिनीत होने में भी लगे।

ग. चरित्र चित्रण एवं नायक – त्रासदी के नायक और चरित्र-चित्रण के विषय में वे लिखते हैं कि त्रासदी का नायक करुणा और भय के उद्रेक में सहायक होना चाहिए, अर्थात् वह एक ऐसा सदाचारी पुरुष होना चाहिए जिसका दुर्भाग्यपूर्ण पतन प्रेक्षकों के मन में करुणा भर दे। नायक का सामाजिक स्तर उच्चकोटी का होना चाहिए ताकि उसका पतन भावक-मन को भय से अभिभूत कर सके।

त्रासदी में नायक के अतिरिक्त सभी पात्र स्वयं को अपने सामाजिक स्तर, आयु और जीवन के अन्य तथ्यों के अनुरूप सच्चाई प्रकट करने वाले होने चाहिए। सभी चरित्र स्वयं को मूक और निष्क्रिय पात्रों के रूप में प्रस्तुत न कर अपने कार्य व्यापारों के माध्यम से व्यक्तित्व का उद्घाटन करने वाले होने चाहिए।

घ. अभिनय— अभिनय तत्व पर विचार करते हुए ज़ाइडन कहता है— अभिनय अभिनेता का कार्य है। अतः त्रासदी की श्रेष्ठता का श्रेय केवल त्रासदीकार को ही नहीं दिया जा सकता रचनाकार और अभिनेता दोनों ही इस श्रेय के प्रतिभागी हैं। क्योंकि अभिनय एक कला है इसलिए कुशल अभिनय से निकृष्ट

कोटि की त्रासदी भी उत्कृष्ट प्रतीत हो सकती है और अकुशल अभिनय से उत्कृष्ट कोटि की त्रासदी भी निकृष्ट हो सकती है।

- ड. **वृंदगान-** त्रासदी में प्रस्तुत किए जाने वाले वृंदगान के विषय में 'डेडीकेशन ऑफ एकसामेन पोइंटिकस' में ग्रीक कोरस को उन्होंने 'व्यर्थ की बाधा' कह अंग्रेजी-त्रासदी में वृंदगान की वर्जना की है। कोरस (वृंदगान) को अनावश्यक घोषित करने में, वस्तुतः ड्राइडन का ध्यान श्रोताओं के आनंद की ओर था।
- च. **भाषा-शैली-** भाषा-शैली के संदर्भ में अगर देखा जाए तो ड्राइडन देश-भाषा (राष्ट्र-भाषा) प्रेमी थे। उन्होंने विशुद्ध अंग्रेजी शब्दावली के प्रयोग का आग्रह किया है। वे भाषा की एकरूपता के पक्ष में थे इसलिए भाषा प्रयोग में वे बागाडम्बर और वाग्स्फीति के विरोधी थे। तुच्छ विषय को भव्य शब्दावली में लिखना तथा जो तथ्य एक पंक्ति में सुस्पष्ट किया जा सकता हो उसे चार-छः पंक्तियों में लिखना वह अविवेक पूर्ण मानते हैं। वे त्रासदी के लिए उदात्त शैली के पक्षपाती थे। काव्योत्कर्ष के लिए अलंकारों का विषय-वस्तु तथा पात्रानुकूल प्रयोग करने के समर्थक थे।

15.8 ड्राइडन और अरस्तू की त्रासदी संबंधी परिभाषा में साम्य

ड्राइडन के त्रासदी विषयक विचारों को अरस्तू के समकक्ष रखते हुए निम्नलिखित बिंदु विचारणीय हैं-

ड्राइडन की **त्रासदी की परिभाषा** अरस्तू से पूर्णतः साम्य रखती है। अरस्तू की तरह वह एक सम्पूर्ण, महान् एवं संभाव्य कार्य व्यापार की अनुकृति को ही त्रासदी मानते हैं। परन्तु ड्राइडन ने 'भय और त्रास' के मनोवेगों का विवेचन अरस्तू के अनुसार न करते हुए फ्रांसीसी आलोचक रेपिन से प्रभावित होकर किया है। रेपिन के अनुसार - "त्रास से अहम् अर्थात् अभिमान का और करुणा से कठोर हृदयता अथवा सहानुभूति के अभाव का उपचार होता है।" ड्राइडन भी करुणा और त्रास मनोविकारों का यही उद्देश्य मानते हैं। इस प्रकार त्रासदी में अरस्तू यदि करुणा और त्रास का उद्रेक और तत्पश्चात् विरेचन मानवात्मा अथवा मानव मस्तिष्क की विशुद्धता और प्रफुल्लता के लिए आवश्यक मानते हैं तो ड्राइडन इन मनोवेगों को मानव स्वभाव के वद्ध-मूल दुर्गणों (अहंकार और कठोर हृदय) के उपचार के लिए आवश्यक मानते हैं।

क. **कथानक :** त्रासदी के **कथानक** के विषय में ड्राइडन के विचार अरस्तू से ही प्रभावित हैं पर यहाँ पर अरस्तू ने कथानक के विषय में विशद् विवेचन किया है वहीं ड्राइडन ने कथानक को उदात्त कहकर ही सर्व धारणाओं को इसी में अंतर्निहित कर दिया है। ड्राइडन के अनुसार- "कथानक सावयव जीवंत प्राणी-सा प्रतीत होना चाहिए, अर्थात् कार्य व्यापार अथवा घटनाएं एक दूसरे से भली-भांति गुम्फित हों, ताकि एक महान् और सम्पूर्ण कथानक की रचना हो सके। "वह दो कथानकों को एक स्थान पर समेटने के विरोध में हैं, परन्तु उपकथानकों को दर्शकों के मनोरंजन के लिए प्रस्तुत किया जाना वह उचित मानते हैं लेकिन शर्त यह कि उपकथानक मुख्य कथानक से पूर्णतः सन्निविष्ट होना चाहिए।" अरस्तू कथानक को चरित्र से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। काव्यशास्त्र में वे लिखते हैं-"त्रासदी का अस्तित्व बिना चरित्र के सम्भव है किन्तु बिना कथानक अर्थात् कार्य-व्यापार के असम्भव।" ड्राइडन कथानक और

अभिनेता को बराबर महत्व देते हैं।

ख. संकलनत्रय कथानक का महत्वपूर्ण तत्व है ड्राइडन ने संकलनत्रय से सम्बन्धित अरस्तू की प्राचीन अवधारणा का अनुमोदन पूर्णतः नहीं किया है। उन्होंने अरस्तू की इस विचारधारा को – “एक ही कथानक, 24 घंटे का समय तथा एक ही स्थल ताकि घटनाओं क्रम टूटे नहीं” पूर्णता नहीं माना है। पर कार्यान्विति संबंधी अवधारणा में वे अरस्तू से सहमत हैं और कहते हैं – “कार्यव्यापार अथवा घटनाएं एक दूसरे से भली-भांति गुम्फित हों, ताकि एक महान् और सम्पूर्ण कथानक की रचना हो सके।” परन्तु कालान्विति और स्थानान्विति के ‘पराधीनता पूर्ण निर्वाह’ का उपहास किया है, जो कि अनावश्यक रूप में नाटककार के कार्य क्षेत्र को सीमित कर देते हैं। इस संबंध में वे लिखते हैं “अरस्तू ने यदि अपने त्रासदी विषयक प्रतिमान सोफोक्लीज और यूरिपिडस से ग्रहण किए थे। यदि उन्होंने हमारी त्रासदियां देखी होती, तो सम्भवतः अपना विचार बदल लिया होता।”

ग. चरित्र-चित्रण : त्रासदी के चरित्र-चित्रण के संदर्भ में ड्राइडन अरस्तू और होरेस के ही अनुकरण कर्ता हैं। इन ग्रीक गुरुओं के समान ड्राइडन भी मानते हैं कि त्रासदी का नायक ऐसा ही होना चाहिए, जिसके कार्य-व्यवहार करुणा और त्रास के भावों का पाठकों एवं दर्शकों में, सर्वाधिक उद्रेक कर सके। अन्य चरित्रों के संदर्भ में ड्राइडन होरेस के विचारों के समर्थक हैं वे मानते हैं कि प्रत्येक पात्र को अपनी आयु और अनुभव के अनुसार ही व्यवहार करना चाहिए।

घ. अभिनय के संदर्भ में ड्राइडन ने अरस्तू की मान्यता का खंडन किया है और कहा कि त्रासदी की सफलता का श्रेय न केवल कवि को दिया जा सकता है अपितु अभिनेता का अभिनय भी इसका भागीदार है क्योंकि उत्कृष्ट अभिनय से ही त्रासदी का वांछित परिणाम मिलता है यदि अभिनय उत्कृष्ट नहीं होगा तो रचनाकार की रचना चाहे जितनी भी उत्कृष्ट क्यों न हो प्रभावशाली नहीं बन पाएगी।

ङ. वृंदगान : त्रासदी में वृंदगान के संदर्भ में ड्राइडन के विचार अरस्तू से बिल्कुल भिन्न हैं इस संदर्भ में वे लिखते हैं – “ग्रीक त्रासदीकारों के लिए वृन्दगान का प्रयोग इसलिए आवश्यक था कि उनके श्रोता ऐसा चाहते थे, परन्तु अंग्रेजी रंगमंच पर इसका प्रयोग अनावश्यक है क्योंकि अंग्रेजी श्रोता वृन्दगान को नहीं चाहते। उनका दृढ़ विश्वास है कि नाटककार की सफलता का अंतर्निहित सूत्र उसका युग-बोध और श्रोताओं की अभिरुचि का ज्ञान है। वे लिखते हैं कि क्लासिकल नियमों का अतिक्रमण करने पर भी जैकोबियन और ऐलिजाबेथन युग के नाटककारों को भारी सफलता इसीलिए मिली कि वे श्रोताओं की परिवर्तित अभिरुचि और युग परिवेश के अनुकूल रचना कर रहे थे।

त्रासदी की भाषा-शैली के संदर्भ में ड्राइडन राष्ट्र भाषा, देश भाषा को ही महत्व देते हैं और अरस्तू के समान भाषा की एकरूपता पर बल देते हैं।

अरस्तू ने त्रासदी को महाकाव्य से श्रेष्ठ माना है। इसकी श्रेष्ठता उन्होंने दो आधारों पर व्यक्त की है: (क) त्रासदी अपने संदेश को अति संक्षिप्त परिधि में ही व्यक्त करती है। (ख) त्रासदी पाठक और दर्शक

दोनों को ही अध्ययन और अभिनय के माध्यम से लाभान्वित करती है। दूसरी ओर ज़ाइडन ने त्रासदी की श्रेष्ठता प्रमाणित करने वाले अरस्तू के इन दोनों तर्कों का खंडन करते हुए महाकाव्य को त्रासदी से श्रेष्ठ घोषित करते हुए कहा – “चूँकि त्रासदी का क्षेत्र सीमित होता है, इसलिए त्रासदी पाठक अथवा दर्शक को उस गहराई तक प्रभावित नहीं कर सकती जिस गहराई तक महाकाव्य कर सकता है अर्थात् व्यापक परिधि के कारण ही महाकाव्य पाठकों पर गहन और चिरस्थायी प्रभाव डालता है।”

15.9 सारांश :

अतः ज़ाइडन के त्रासदी विषयक विचारों की समीक्षा करते हुए कहा जा सकता है कि त्रासदी संबंधी उनके विचारों पर एक ओर होरेस, लॉगिनुस का प्रभाव था तो दूसरी ओर बोयले, एवरमन्द का। उन्होंने त्रासदी के कई संदर्भों में प्राचीन ग्रीक गुरुओं का सम्मान किया है तो दूसरी ओर वह युग विशेष में, परिस्थिति विशेष में नवीनता के आकांक्षी थे। इसलिए वे कहते हैं कि— “शास्त्रवादी गुरुओं के सिद्धांत मानव प्रकृति से उद्घाटित सत्य हैं, परन्तु फिर भी वह परिस्थिति और देशकालातीत नहीं माने जा सकते और न सभी युगों में, सभी राष्ट्रों के हर प्रकार के साहित्य पर लागू ही हो सकते हैं।”

15.10 कठिन शब्द :

- | | |
|--------------|--------------|
| 1. अनुकृति | 2. अभिनीत |
| 3. त्रासदी | 4. वृन्दगान |
| 5. अध्येता | 6. प्रेक्षक |
| 7. निष्क्रिय | 8. विशुद्धता |
| 9. उद्रेक | 10. अतिक्रमण |

15.11 अभ्यासार्थ प्रश्न :

प्र1. त्रासदी का अर्थ एवं परिभाषा देते हुए उसके अंगों पर प्रकाश डालिए ?

प्र2. त्रासदी के संगठन संबंधी अंगों का विवेचन कीजिए ।

प्र3. जॉन ड्राइडन की त्रासदी विषयक विचारधारा पर विचार कीजिए।

15.12 संदर्भ ग्रंथ/पुस्तकें :

1. डॉ कृष्ण दत्त शर्मा – ड्राइडन के अलोचना सिद्धांत
2. आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा – पाश्चात्य काव्यशास्त्र
3. डॉ जगदीश चन्द्र जैन – पाश्चात्य समीक्षा दर्शन

वर्द्धसवर्थ : काव्य- भाषा

- 16.0 रूपरेखा
- 16.1 उद्देश्य
- 16.2 प्रस्तावना
- 16.3 वर्द्धसवर्थ : काव्य-भाषा
 - 16.3.1 छंद
 - 16.3.2 काव्य और कल्पना
 - 16.3.3 काव्य-प्रयोजन
- 16.4 सारांश
- 16.5 कठिन शब्द
- 16.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 16.7 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

16.1 उद्देश्य :

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- काव्य की भाषा के विषय में वर्द्धसवर्थ के मतों को जान सकेंगे।
- काव्य के तत्त्वों की जानकारी प्राप्त करेंगे।
- काव्य और कल्पना एवं काव्य के प्रयोजन से अवगत होंगे।

16.2 प्रस्तावना :

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अनुसार काव्य के चार तत्त्व निर्धारित किए गए हैं—कल्पना-तत्त्व; बुद्धि-तत्त्व, भाव-तत्त्व तथा (भाषा)-शैली तत्त्व। कल्पना-तत्त्व, बुद्धि तत्त्व तथा भाव तत्त्व भाषा के भाव-पक्ष या विषय-वस्तु से संबंधित है, जबकि (भाषा)-शैली तत्त्व का संबंध अभिव्यक्ति-पक्ष या कला-पक्ष से है। भाव-पक्ष को काव्य की आत्मा

और कला-पक्ष को इसका शरीर माना जा सकता है। भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष का चोली-दामन का संबंध है। भाव की प्रकृति के अनुसार अभिव्यक्ति अपना रूप धारण करती है। वस्तुतः सफल कवि या लेखक की पहचान यही है कि वह भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष का समुचित सामंजस्य स्थापित करे। "गद्यं कवीनाम् निकषं बंदति" अर्थात् गद्य कवियों की कसौटी है; इस कथन में यही बात छिपी हुई है कि गद्यकार अपनी शैली का समुचित प्रयोग करे जिससे उसका भाव सहज ही बोधगम्य हो।

16.3 वर्ड्सवर्थ : काव्य-भाषा

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में शैली (Style) शब्द पुराना है। इसका पर्याय रीति है। आठवीं-नौवीं शताब्दी के बीच वामन ने रीति संप्रदाय की प्रतिष्ठा करते हुए कहा कि काव्य की आत्मा रीति है। रीति को समझाते हुए वामन कहते हैं कि रीति विशिष्ट पद-रचना है। शब्दों के समुचित विधान को 'रीति' कहते हैं। शब्द-विन्यास मधुर, कठोर तथा सामान्य होता है जिसको क्रमशः वैधर्मी, गौड़ीय तथा पाँचाली रीति कहा जाता है।

काव्यशास्त्र के अनुसार शब्द और अर्थ का अन्योन्याश्रित संबंध है। अर्थ (भावपक्ष) जैसा होगा, भाषा-शैली तथा छंद वैसा ही रूप ग्रहण करेगा। शब्द और अर्थ का संबंध वैसा ही माना गया है जैसा संबंध शरीर और आत्मा का। जिस प्रकार शरीर तथा आत्मा की अलग-अलग कल्पना करना बहुत ही कठिन कार्य है, ठीक उसी प्रकार 'शब्द' और 'अर्थ' संपृक्त हैं। शब्दार्थ के साहित्य के निर्माण में कवि की प्रतिभा निर्धारित होती है। साहित्य शब्द और अर्थ की वह अवस्थिति है जो न्यूनता और अधिकता से रहित, परस्पर-स्वर्द्धि भाव से रमणीय और सौंदर्य-शालिनी होती है। इस प्रकार की अवस्थिति एक सहृदय के लिए आह्लादकारी सिद्ध होती है।

शब्द और अर्थ के सहभाव के संबंध में महाकवि कालिदास ने एक अनूठी कल्पना प्रस्तुत की है। कवि जगत के माता-पिता पार्वती और शंकर की वंदना करता जो एक-दूसरे से उसी रूप में संपृक्त हैं जिस प्रकार शब्द और अर्थ। वस्तुतः शब्द (शैली) और अर्थ एक-दूसरे से अलग अविभासित होते हैं किंतु अपने वास्तविक रूप में वे एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं। शब्द कहने मात्र से अर्थ का बोध हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने शब्द और अर्थ के सहभाव को इस रूप में कहा है -

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।

बंदौं सीताराम पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न।।

कवि ऐसे सीताराम के चरणों की वंदना करता है....जो उसी प्रकार एक-दूसरे से भिन्न नहीं है जिस प्रकार शब्द और अर्थ, जल और तरंग।

इस परिदृश्य में कवि वर्ड्सवर्थ के शैली संबंधी विचारों को देखें तो उनके बारे में कई महत्वपूर्ण बातें उजागर होती हैं। अठारहवीं शताब्दी के अंत में ड्राइडन तथा दूसरे कवियों एवम् आचार्यों ने जिस काव्य-शैली को मान्य माना था, कालांतर में वह शैली रूढ़ मानी जाने लगी। वर्ड्सवर्थ की प्रतिक्रिया इस शैली के प्रति और भी तीव्र थी। उन्हें यह शैली कृत्रिम, बोझिल तथा भावशून्य प्रतीत हुई। जिस प्रकार टी. एस. इलियट जैसे विद्वान प्रतिदिन की बोलचाल की भाषा के समर्थक रहे हैं, उसी प्रकार वर्ड्सवर्थ ने कहा कि उनकी भाषा अधिक प्राकृतिक तथा स्वाभाविक है।

वर्ड्सवर्थ से पहले काव्य-भाषा की शब्दावली निश्चित की गई थी और उनमें से निम्न तथा साधारण शब्दों का बहिष्कार किया गया था। वर्ड्सवर्थ को विशिष्ट काव्यगत युक्तियाँ—मानवीकरण, वक्रोक्ति (Periphrasis) विपर्यय (Inversion) वैषम्य (Anti-Thesis), रुचिकर नहीं थे। वे पौराणिक दंतकथाओं तथा भावाभास (Pathetic Fallacy) के अनावश्यक प्रयोग के भी विरोधी थे। उन्होंने विलक्षणता दूरारूढ़ कल्पना (Conceits), अतिशयोक्ति, शाब्दिक चमत्कार तथा अस्पष्टता की भी आलोचना की, जो सत्रहवीं शताब्दी में प्रमुख शैलियाँ थीं। वर्ड्सवर्थ के कहने का आशय यही है कि काव्य की भाषा सर्वप्रचलित भाषा हो। यह साधारण लोगों की भाषा होती है तथा इसे हम जनभाषा भी कह सकते हैं।

वर्ड्सवर्थ ने भाषा से कृत्रिमता दूर करने के लिए सरलता पर बल दिया। उनके समय में अलंकृत भाषा का यांत्रिक अनुकरण हो रहा था। वर्ड्सवर्थ की मान्यता थी कि सरल और ग्रामीण जीवन (humble and rustic life) से यदि विषय चुने जाएँगे तो भाषा स्वयं सरल हो जाएगी। उनके अनुसार कवि का कर्तव्य यह है कि वह पाठक को जीवन तथा जगत की समीपता से बाँधे रखे। (He should keep the reader in the company of flesh and blood).

वर्ड्सवर्थ के अनुसार काव्यभाषा जनसाधारण की भाषा हो तथा छंदोबद्ध रचना तथा गद्य की भाषा में न तो कोई तात्त्विक अंतर होता है न ही हो सकता है। इस मान्यता के लिए उन्होंने कहा कि “गद्य की भाषा और कविता की भाषा दोनों की अभिव्यंजना करने वाली इंद्रिय तथा दोनों को ग्रहण करने वाली इंद्रिय एक ही है, इनके परिच्छेद एक ही तत्त्व से बने होते हैं और इनकी राग-रुचि भी परस्पर समान होती है।”

वस्तुतः मूल प्रश्न यह है कि जनसाधारण की भाषा क्या है? क्या सर्वप्रचलित भाषा ही जनभाषा है? क्या जनभाषा वह भाषा है जो सहज ही बोधगम्य हो? आलोचकों का कहना है कि वर्ड्सवर्थ की अधिकांश रचनाओं में इस भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है। स्वयं उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि काव्य-भाषा के बारे में उनके विचार उनकी काव्य-रचना से मेल नहीं खाते। कालांतर में उन्होंने ग्राम्य-भाषा में सुधार और परिष्कार की बात की। तदनुसार वे कहते हैं कि काव्य-भाषा के लिए सही तथा उपयुक्त शब्दों का चुनाव होना चाहिए, यों ही ग्राम्य भाषा का चुनाव नहीं किया जाना चाहिए। कवि-आलोचक का कहना है कि काव्य-भाषा सरल, सीधी और आडंबरविहीन होनी चाहिए और वह पाठक के हृदय में अरुचि तथा वितृष्णा पैदा न करे। वर्ड्सवर्थ का विश्वास है कि इसी विधि से हम ग्राम्यत्व, तुच्छता तथा सामान्यता के दोषों से बच सकते हैं।

वर्ड्सवर्थ के अनुसार भाषा में बोधगम्यता होनी चाहिए। इसका आशय यह है कि काव्य-भाषा सबकी समझ में आ सके। यहाँ सुमित्रानंदन पंत की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं जिसमें इस बात पर बल दिया गया है कि काव्य-भाषा अलंकार-विहीन होनी चाहिए:

तुम जन-गण में वहन कर सको मेरे विचार।

वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।।

वर्ड्सवर्थ के भाषा-शैली संबंधी विचार उनके काव्य-संबंधी विचारों से घनिष्ठ संबंध रखते हैं। कवि कविता को भावावेग का उच्छलन (spontaneous over-flow of feelings) मानते हैं। भावोच्छलन के समय भाषा हृदय से

निकलती है, वह चिंतन और मनन के उपरांत गढ़ी हुई नहीं है। जिस प्रकार चिंतन की प्रक्रिया से गुजरकर कवि का मन—मस्तिष्क इतना परिष्कृत हो जाता है कि “उसका सहज भावावेग उच्चकोटि का और प्राणवान तथा ऊर्जायुक्त होता है, उसी प्रकार सच्चे तथा विवेकपूर्ण चुनाव (True and judicious selection) से भाषा गरिमामंडित, सजीव और सप्राण हो जाती है।” वर्ड्सवर्थ भावोच्छलन के पक्ष में है किंतु उनका “भावोच्छलन लापरवाह या विवेकहीन भावोच्छलन न होकर विचारवान व्यक्ति का भावोच्छलन है।” इसका अर्थ यह हुआ कि वर्ड्सवर्थ की काव्य—रचना में सहज भावोच्छलन है किंतु उस पर कवि की सचेतनता तथा विवेक का पूर्ण अंकुश है। गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में कहीं—कहीं अति—भावुकता के स्थल पढ़ने को मिलते हैं किंतु कवि वहाँ भी विचारवान तथा चेतन अवस्था में बात करते दिखाई देते हैं।

16.3.1 छंद

वर्ड्सवर्थ कविता को छंदमयी मानते हैं। छंद के कारण ही कवि को एक विशेष प्रकार की भाषा का प्रयोग करना चाहिए। वह जिस प्रकार भाषा के प्रयोग तथा चयन (selection of language) पर बल देते हैं, उसी प्रकार छंद के चयन पर भी बल देते हैं।

कवि वर्ड्सवर्थ के अनुसार छंद उपयुक्त नियमित तथा एकविध होना चाहिए। उसके नियम निश्चित होने चाहिए। वे छंद के प्रयोग को अनिवार्य नहीं मानते किंतु छंद के प्रयोग की महत्ता तथा अनिवार्यता से वे परिचित दिखाई देते हैं। वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि करुण स्थिति (करुण रस) को उजागर करने के लिए छंदमयी रचना में जितना सफल प्रयोग हो सकता है, उतना गद्य में नहीं। कवि की आस्था है कि छंद विषय को संतुलित करता है तथा पाठक को आनंद प्रदान करता है।

वर्ड्सवर्थ की मान्यताओं का खंडन किया गया है। कॉलरिज जैसे कवि—आलोचक इस बात से सहमत नहीं हैं कि ग्राम्य—भाषा तथा काव्य—भाषा की समीपता का अंतरंग संबंध है। वर्ड्सवर्थ काव्यभाषा तथा सामान्य जनभाषा में कोई मौलिक अंतर नहीं मानते हैं, वह कालरिज को मान्य नहीं है। वस्तुतः वर्ड्सवर्थ कृत्रिम भाषा—शैली का बहिष्कार करना चाहते थे, पर उन्होंने इस बात पर आवश्यकता से अधिक बल दिया। उन्होंने कल्पना शक्ति पर भी बहुत बल दिया। इसी प्रकार शैली की परिशुद्धता की अपेक्षा उन्होंने भावपक्ष की महत्ता को उजागर किया।

संक्षेप में वर्ड्सवर्थ ने काव्य—रचना—प्रक्रिया के आधार पर काव्य का विवेचन किया। उन्होंने काव्य में भाव तत्त्व (राग तत्त्व) की प्रतिष्ठा की। इसी प्रकार कवि—आलोचक ने जनसाधारण के भावों और सामान्य—भाषा (जनभाषा) को महत्त्व दिया। वे रूढ़, अलंकृत, आडंबरपूर्ण तथा कृत्रिम भाषा के विरोधी थे।

16.3.2 काव्य और कल्पना :

काव्य शब्द का प्रयोग काव्य—शास्त्र में व्यापक तथा संकुचित दोनों अर्थों में किया जाता है। व्यापक अर्थ में काव्य ‘साहित्य’ शब्द का पर्यायवाची है तथा कविता के अतिरिक्त इसमें साहित्य की अन्य विधाएँ, जैसे कथा—साहित्य (उपन्यास तथा कहानी), निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी आत्मकथा आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। संकुचित या सीमित अर्थ में काव्य का क्षेत्र केवल कविता तथा उसकी विभिन्न विधाओं तक परिसीमित किया जा सकता है।

काव्य संपूर्ण साहित्य की सुरभि है, उसमें साहित्य का सारा संसार अंतर्निहित है। काव्य में शुद्ध अनुभूति की अभिव्यक्ति पूर्ण तीव्रता तथा गंभीरता से होती है। वस्तुतः काव्य के लिए जो सत्य है, वह साहित्य के लिए भी है। काव्य की सुरभि को हम केवल कविता तक ही परिसीमित नहीं कर सकते हैं।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के आचार्यों तथा अन्य काव्य-आलोचकों ने काव्य की जो परिभाषाएँ निर्धारित की हैं, उनके आधार पर कह सकते हैं कि कल्पना काव्य का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। अंग्रेजी काव्य-शास्त्र के एक प्रसिद्ध विद्वान शैले के अनुसार "सामान्य अर्थ में कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।" हडसन महोदय के अनुसार "काव्य कल्पना और संवेग के माध्यम से जीवन की व्याख्या है।" इन परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि कल्पना काव्य का अनिवार्य तत्त्व है तथा सार्थक कल्पना के बिना साहित्य का अस्तित्व अधूरा है। कॉलरिज का कहना है कि दार्शनिक हुए बिना एक व्यक्ति एक महान कवि नहीं हो सकता। इस संदर्भ में यह कथन बहुत ही सटीक लगता है, "जहाँ न जाए रवि, वहाँ जाए कवि।" कवि की उड़ान बहुत ऊँची होती है। वह समय की सीमाओं से ऊपर उठकर जो कुछ कहता है, वह सार्वदेशिक, सार्वकालिक तथा सार्वभौम होता है। कल्पना ही वह शक्ति है जिसके आधार पर कवि या कलाकार अपनी नवीन सृष्टि को रूप तथा आकार प्रदान करता है।

कल्पना-शक्ति के माध्यम से ही कवि या साहित्यकार उन बाह्य वस्तुओं के बिंब का निर्माण करता है जो इंद्रियों के सामने उपस्थित नहीं रहतीं। यह कवि के मस्तिष्क की रचनात्मक शक्ति है। रचनात्मक कल्पना और मौलिकता में घनिष्ठ संबंध होता है। जिसमें रचनात्मक कल्पना होती है, उसमें मौलिकता भी होती है। कवि अपनी इसी कल्पना-शक्ति के सहारे ऐसा चित्र निर्मित करता है जो सहृदय पाठक को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट करता है तथा उसे रस-विभोर कर देता है। कल्पना ही वास्तव में ऐसा साधन है, जिससे बिंब या प्रतीक का निर्माण होता है, अलंकारों की निर्मिति होती है तथा अभिव्यक्ति में वक्रता आती है। कल्पना-शक्ति के सहारे ही कवि की अभिव्यंजना-शक्ति का विकास होता है तथा शब्द-शक्ति में नई अर्थवत्ता आती है।

1. कवि-कल्पना के बारे में वर्ड्सवर्थ के विचारों में एकरसता नहीं है। उनके विचार बहुआयामी हैं। वर्ड्सवर्थ एक ओर कल्पना के अंतर्गत बिंबों के स्वच्छंद पुनः सर्जन और उसके संयोजन को लेते हैं, तो कभी उसे बौद्धिक अंतर्दृष्टि मानते हैं। बौद्धिक अंतर्दृष्टि की बात करते हुए वर्ड्सवर्थ नव्यशास्त्रवादियों की भाषा में बात करते हैं।

2. दूसरी ओर वर्ड्सवर्थ किसी बिंब या विचार के थोपे जाने को कल्पना कहते हैं। वास्तव में यह विचार या बिंब वास्तविक जगत पर थोपा जाता है। दूसरी ओर वे कल्पना को दीप्ति (प्रकाश) मानते हैं। व्यक्ति की आत्मा तथा उसके चेतन मस्तिष्क के नियंत्रण से यह बाहर की चीज है।

3. प्रायः वर्ड्सवर्थ कल्पना को बिंब या विचार तथा दीप्ति (प्रकाश) इन दोनों के बीच की स्थिति को मानते हैं। इसमें कवि अपनी ओर से योग देता है तथा अपने अन्तर्ज्ञान से भी काम लेता है।

4. वर्ड्सवर्थ का कहना है कि कवि सामान्य जीवन की घटनाओं और स्थितियों पर अपना रंग चढ़ाए, वस्तुओं का वर्णन इस प्रकार करे जैसी कि वे उसे दिखाई देती हैं, जैसे कि वह उनके संबंध में अनुभव करता है।

इसके लिए कवि को अपनी संवेदनशीलता और कल्पना से काम लेना चाहिए। इसके योग से कवि को

विषय (वर्ण्यवस्तु) अधिक आकर्षक तथा सुंदर बनाना होगा, किंतु इसका कदापि यह मतलब नहीं है कि वह कल्पना के नाम पर भ्रांति उत्पन्न करे। प्रकृति के माध्यम से अदृश्य जगत से संबंध जोड़ा जा सकता है। संक्षेप में कल्पना के अंतर्गत पारदर्शी अंतर्दृष्टि, मस्तिष्क की विशुद्धता तथा सर्वोत्तम कोटि की बौद्धिकता तथा तर्कशीलता को लेते हैं।

5. वर्ड्सवर्थ ने कल्पना को कभी-कभी वह शक्ति माना है जिसके द्वारा कवि व्यक्ति तथा वस्तु में सार्वभौम विचारों तथा सिद्धांतों की प्रतिष्ठा करता है। कवि कल्पना-शक्ति द्वारा अनेक वस्तुओं को एकता प्रदान कर देता है तो कभी एक को अनेक में विभक्त कर देता है। दूसरे शब्दों में, कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा कवि कभी असीम से ससीम की ओर जाता है तो कभी ससीम से असीम की ओर जाता है। अतः कल्पना-शक्ति संश्लेषण और विश्लेषण दोनों का कार्य करती है।

6. यहाँ कॉलरिज और वर्ड्सवर्थ के कल्पना-संबंधी विचारों की तुलना करना असंगत न होगा। कवि कॉलरिज का मत यह था कि फैंटेसी (Fantasy) समुच्चयात्मक (Aggregative) या सहचरी (Associative) शक्ति है और कल्पना स्वरूप प्रदान करने वाली या परिवर्द्धन करने वाली शक्ति है। इसके विपरीत वर्ड्सवर्थ का विचार था कि कल्पना तथा फैंटेसी दोनों ही रचनात्मक शक्तियाँ हैं। उनके अनुसार इन दोनों शक्तियों का कार्य स्मृतियों तथा वस्तुओं को एकत्र करना, उन्हें एक-दूसरे से संबद्ध करना तथा नई चीजों की उद्भावना करना है।

7. कॉलरिज और वर्ड्सवर्थ एक बात में सहमत हैं। दोनों फैंटेसी और कल्पना का भेद बताते हुए कहते हैं कि फैंटेसी का संबंध निश्चित तथा स्थिर वस्तुओं से है। इन दो धारणाओं को कई उदाहरणों से समझाया जा सकता है। उदाहरण के लिए जब किसी वस्तु का आकार आदि निश्चित रूप में बताया जाए, तो वहाँ फैंटेसी कार्य करती है। दूसरी ओर जब हिमालय की सबसे ऊँची चोटी आकाश से बातें करते हुए देखेंगे, वहाँ कवि कल्पना-शक्ति का आश्रय लेता है। "यदि कोई कवि सायंकालीन ओस-बिंदुओं को आकाश के आँसू कहे, तो उसे फैंटेसी समझना चाहिए और यदि मिल्टन के समान कोई कवि आदम के पूर्ण पतन पर आकाश को शोकपूर्ण अश्रु बहाते हुए चित्रित करे, तो उसे कल्पना का कार्य समझना चाहिए क्योंकि हमारा मन इस चित्र को तर्कसम्मत तथा न्यायसंगत मानता है।"

8. उपरोक्त विवेचन से फैंटेसी और कल्पना के कुछ भेदक लक्षण निर्धारित किए जा सकते हैं। फैंटेसी भ्रांति पर आधारित होती है तथा यह बौद्धिक व्यायाम की उपज है। इसकी गति तीव्र होती है। यह एकदम विचारों तथा बिंबों को प्रस्तुत करती है। काव्य के लिए फैंटेसी को अधिक उपयोगी नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत कल्पना की गति धीमी होती है। वह चित्र आदि का निर्माण धीरे-धीरे करती है, जिसका असीम तथा अनिश्चित रूप होता है।

16.3.3 काव्य-प्रयोजन

कवि वर्ड्सवर्थ के लिए काव्य लोकमंगल का साधक है। उसकी उपयोगिता यह है कि या तो वह पाठकों के भावों का संस्कार और परिष्कार करे, उनके ज्ञान में वृद्धि करे या उनके मानसिक तथा नैतिक स्वास्थ्य और सुख के लिए उपयोगी हो।

वर्ड्सवर्थ के कहने का आशय यह है कि काव्य की रचना लोकहित या लोकमंगल की साधना है। कवि काव्य या साहित्य को नैतिक आहार मानता है। इसके द्वारा पाठकों या प्रेक्षकों के भावों में परिष्कार तथा परिवर्द्धन लाया जा सकता है। वर्ड्सवर्थ का कहना है कि काव्य मानसिक स्वास्थ्य एवं सुख के लिए उपयोगी है। वस्तुतः वर्ड्सवर्थ के काव्य-प्रयोजन संबंधी विचार आदर्शवादी हैं। उनका मत है कि कवि ऐसी कृति करे जिससे पाठकों की भावनाओं में परिष्कार हो। काव्य का प्रयोजन मनुष्य की भावनाओं को अधिक संतुलित, विवेकपूर्ण, शुद्ध, स्थायी तथा प्रकृति के अनुरूप बनाए। भारतीय काव्यशास्त्र के एक महान आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रयोजन की बात करते हुए कहा है कि काव्य-प्रयोजन का उद्देश्य व्यवहार-कुशलता प्राप्त करना है। व्यावहारिकता मनुष्य में तभी आ सकती है जब कि पाठक का श्रोता के व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन तथा परिवर्द्धन आए। यह परिवर्तन भी मनुष्य को शुद्ध तथा संतुलित बना देता है।

वर्ड्सवर्थ के अनुसार काव्य का भावात्मक प्रभाव ऐसा होना चाहिए कि उसे पढ़कर पशुओं, मनुष्यों तथा जड़-पदार्थों तक के प्रति सहानुभूति तथा संवेदना जाग्रत हो सके, उनकी भावात्मक जड़ता और उदासीनता समाप्त हो सके, वे जगत का रहस्य और उसकी मूल प्रकृति समझ सकें।

स्पष्ट है कि वर्ड्सवर्थ के काव्य-संबंधी विचार बहु-आयामी हैं। एक स्तर पर वे काव्य के माध्यम से मानवों में भावात्मक परिष्कार करना चाहते हैं तो दूसरी ओर वे मानवेतर प्राणियों एवं जड़-पदार्थों तक के प्रति संवेदना तथा सहानुभूति जाग्रत करवाना चाहते हैं। यहां सूरदास के 'सूरसागर' में वर्णित-वंशीवादन की अनायास याद आती है। श्रीकृष्ण की बांसुरी से मनुष्य क्या, दूसरे मानवेतर प्राणी (पशु-पक्षी) तथा जड़-पदार्थ भी द्रवित हो उठते हैं। काव्य का यह भावात्मक दृष्टिकोण सार्वभौम है तथा भारतीय काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने बहुत पहले इन बातों के बारे में गंभीरतापूर्वक विवेचन किया है। काव्य नीरस शिक्षा या उपदेश नहीं देता। यदि उपदेश देना ही हो, वह वाच्यार्थ न होकर व्यंग्यार्थ होना चाहिए। कहना होगा कि भारतीय काव्यशास्त्र में व्यंजना शब्द-शक्ति का गंभीर विवेचन किया गया है। काव्य-प्रयोजन के बारे में वर्ड्सवर्थ का यह भी विचार है कि काव्य का कार्य असत्य भावनाओं का विवेचन करना है। इसके द्वारा सभ्यता तथा सामाजिक आडंबर से उत्पन्न पूर्वाग्रहों को समाप्त करना है, घृणा-द्वेष जैसी भावनाओं को दूर करना है। काव्य के द्वारा मानव-संवेदना का विस्तार होता है। वर्ड्सवर्थ का यह कथन इस भारतीय विचारधारा के साथ मेल खाता दिखाई देता है कि यह मेरा है, वह आपका है इस प्रकार की सोच तथा मानसिकता सीमित चेतना रखने वालों की है। विशाल हृदय रखने वाले मनीषियों के लिए यह वसुधा एक परिवार के समान है। इस प्रकार की भावना तभी संभव है जब हमारी संवेदना में विस्तार तथा गहराई आती है।

वर्ड्सवर्थ साहित्य के माध्यम से नैतिक सत्य का प्रचार तो चाहते ही हैं किन्तु इसके साथ-साथ वे आनंद-प्राप्ति को आवश्यक तत्त्व मानते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में आनंद-प्राप्ति काव्य की परकाष्ठा मानी गई है। साहित्यिक आनंद के बाद हमारे यहां किसी और आनंद की कल्पना नहीं की गई है। वर्ड्सवर्थ बौद्धिकता तथा आनंद में एकदम पारस्परिक विरोध मानते हैं। यह बात सही है क्योंकि साहित्य बुद्धि प्रधान न होकर भावना-प्रधान है। कालांतर में वर्ड्सवर्थ के दृष्टिकोण में परिवर्तन आ गया तथा उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया कि विज्ञान के विषय भी काव्य में सम्मिलित किए जा सकते हैं तथा काव्य के सौंदर्य-बोध में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। तथापि कवि-ज्ञान

तथा विज्ञान का अंतर स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि पहला ज्ञान विषयीगत है जबकि विज्ञान एक व्यक्ति निष्ठ उपलब्धि है।

वर्ड्सवर्थ के अनुसार कवि-ज्ञान अस्तित्व का आवश्यक अंग है। वह हमारा सहज उत्तराधिकारी है जो छीना नहीं जा सकता। इसके विपरीत वैज्ञानिक "सुदूर एवं अज्ञात उपकर्ता समझकर सत्य की खोज करता है, कवि सत्य को साकार मित्र समझकर खुशी के गीत गाता है और उन गीतों में मानव-मात्र उसका साथ देता है। कवि का कार्य समूची मानव-जाति को प्रेम के सूत्र में बांधना है, गिरने से रोकना है। अतः वह "मानव-प्रकृति" की सुरक्षा चट्टान" है।

16.4 सारांश :

कल्पना-तत्त्व काव्य का अविभाज्य अंग है। कवि के पास यदि रचनात्मक कल्पना का अभाव है, वह सही अर्थों में कवि नहीं कहलाया जा सकता। वर्ड्सवर्थ ने काव्य में कल्पना-तत्त्व के योग पर पूरा बल दिया है। कवि के कल्पना-संबंधी विचार बहुआयामी हैं। कहीं-कहीं उनके प्रत्ययों में उलझनें तथा विरोधाभास दिखाई देता है। कवि का दृष्टिकोण मानवतावादी है। वर्ड्सवर्थ के कल्पना संबंधी विचार और अधिक व्याख्या तथा स्पष्टीकरण की मांग करते हैं।

16.5 कठिन शब्द :

- | | |
|--------------|---------------|
| 1. सम्पुक्त | 2. परिदृश्य |
| 3. परिच्छेद | 4. विलक्षणता |
| 5. भावोच्छलन | 6. संश्लेषण |
| 7. उपकर्ता | 8. विरोधाभास |
| 9. अविभाज्य | 10. प्रेक्षको |

16.6 अभ्यासार्थ शब्द :

प्र1. वर्ड्सवर्थ की काव्यभाषा विषयक मान्यताओं पर प्रकाश डालिए ?

प्र2. काव्य-प्रयोजन को लेकर वर्ड्सवर्थ के विचारों पर रोशनी डालें ?

प्र3. काव्य-कल्पना को लेकर वर्ड्सवर्थ के विचार प्रकट करें।

6.7 संदर्भ ग्रंथ / पुस्तकें :

1. देवेन्द्रनाथ शर्मा – पाश्चात्य काव्यशास्त्र ।
2. डॉ नगेन्द्र और सावित्री सिन्हा (संपा.) – पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा ।

मैथ्यू अर्नाल्ड : कविता-जीवन की आलोचना

- 17.0 रूपरेखा
- 17.1 उद्देश्य
- 17.2 प्रस्तावना
- 17.3 मैथ्यू अर्नाल्ड : काव्य प्रयोजन
- 17.4 मैथ्यू अर्नाल्ड : काव्य और नैतिकता
- 17.5 सारांश
- 17.6 कठिन शब्द
- 17.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 17.8 सन्दर्भग्रन्थ/पुस्तकें

17.1 उद्देश्य :

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- काव्य-जीवन की आलोचना के विषय में अर्नाल्ड के विचारों को जान सकेंगे।
- मैथ्यू अर्नाल्ड के काव्य प्रयोजन से अवगत होंगे।
- मैथ्यू अर्नाल्ड ने काव्य में नैतिकता के महत्व को स्थापित किया है इससे अवगत हो सकेंगे।

17.2 प्रस्तावना :

मैथ्यू अर्नाल्ड ने काव्य को जीवन की आलोचना और व्याख्या के रूप में देखा। वह समकालीन भौतिक व्यवस्था के विपरीत बृहत्तर मानवीय मूल्यों पर आधारित संस्कृति की स्थापना के पक्ष में था। उस समय के इंग्लैंड और योरुप में भौतिक लालसाएं बलवती हो रही थीं। विश्व के बड़े-बड़े भूभागों पर इंग्लैंड का शासन था। चारों ओर से धन इंग्लैंड में आ रहा था। मनुष्य के गौरव की कसौटी केवल एक थी- उसका धनी होना। मैथ्यू अर्नाल्ड ने सामाजिक परिस्थितियों से मुंह मोड़ने वाले साहित्य को अराजकता फैलाने वाला साहित्य कहा था। सच्चा काव्य जीवन का वैसा

चित्रण नहीं करता जैसा यथार्थ में होता है। कवि जीवन की समीक्षा करता है और मानव-संस्कृति के पोषक उदात्त मूल्यों की स्थापना करता है। काव्य-सत्य और काव्य सौंदर्य के मिलान से कवि एक ऐसे सत्य की रचना करता है जो शाश्वत है और मानव जीवन के लिए आध्यात्मिक (न कि भौतिक) दृष्टि से कल्याणकारी हो।

“Poetry is, at bottom, a criticism of life.”

कवि एक उपदेश का रूप धारण कर लेता है। उसका काम यही कह कर समाप्त नहीं हो जाता कि मनुष्य जी किस प्रकार रहे हैं। जीना कैसे चाहिए (How to live) इसका संकेत करना कवि का मुख्य उद्देश्य है।

साहित्य तो जीवन की आलोचना है ही, आलोचना स्वयं में साहित्यिक सृजन से कम नहीं है। आलोचना के दो मार्ग हो सकते हैं। एक, स्थापित काव्य सिद्धान्तों के अनुसार रचना को अच्छा या बुरा कह देना, दो, कृति का गंभीर अध्ययन करके उसे सामाजिक संदर्भों और मानवीय मूल्यों की कसौटी पर रख कर परखना। अर्नाल्ड दूसरे प्रकार की आलोचना को ही वास्तविक आलोचना मानता है। अर्नाल्ड आलोचक को कृतिकार की भांति एक सर्जक मानता है। उसने जोर देकर कहा कि आलोचक सामाजिक दायित्व से आँखें नहीं मूंद सकता। अर्नाल्ड की सर्वप्रमुख विशेषता यही है कि उसने काव्य और जीवन का अविच्छिन्न संबंध स्थापित करके आलोचना को भी सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकारों से जोड़ने का आग्रह किया। साहित्यकार और आलोचक दोनों समाज के जागरूक प्रहरी हैं। साहित्य रचना के संदर्भ में दो प्रकार की शक्तियां काम करती हैं। मनुष्य की सृजनात्मकता की शक्ति तथा दूसरी युग की प्रवृत्तियां। साहित्य का निर्माण दोनों के समन्वय से होता है। समीक्षक एक ऐसा व्यक्ति है जो सामाजिक परिस्थितियों, उनके मानव जीवन पर पड़ने वाले अच्छे और बुरे प्रभावों पर गंभीरता पूर्वक विचार करता है। इस प्रकार वह काव्य को दिशा-निर्देश देता है जिससे काव्य शाश्वत सांस्कृतिक मूल्य का वाहक बन जाता है। सृजन और समीक्षा की शक्तियों में सृजन का स्थान निःसंदेह पहला है क्योंकि काव्य रचना नहीं होगी तो समीक्षा की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। किन्तु ऐसा कोई युग नहीं होता जब काव्य-रचना नहीं होती। काव्य-रचना को घटिया होने से बचाना समीक्षक का धर्म है। इस प्रकार साहित्यकार स्वयं भी समाज और जीवन का आलोचक है। आलोचक समाज, जीवन और साहित्य का आलोचक है। अर्नाल्ड के अनुसार आलोचना की बस इतनी ही भूमिका है कि जो तत्त्व जगत के लिए सर्वोत्कृष्ट है, उन्हें समझे, उनका प्रचार करे जिससे अच्छे काव्य की रचना हो सके।

यहाँ कहा जा सकता है कि मैथ्यू अर्नाल्ड साहित्य को धर्म और नीति के बंधनों में बांध देता है। किन्तु गंभीरता से विचार किया जाए तो स्पष्ट होता है कि अर्नाल्ड जिन्हें मानव-मूल्य कहता है, वह धार्मिक मतमतान्तरों की सीमा से परे हैं। वह एक ऐसी मानव-संस्कृति के निर्माण का पक्षधर है जिसमें संकीर्णताओं से मुक्ति दिलाकर संपूर्ण मानव समाज को एक जीवंत पूर्ण इकाई के रूप में प्रस्तुत करने का लक्ष्य सिद्ध होगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए काव्य की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। काव्य जीवन की आलोचना ही नहीं करता, एक श्रेष्ठ जीवन के निर्माण की प्रेरणा भी देता है।

17.3 मैथ्यू अर्नाल्ड : काव्य प्रयोजन

मैथ्यू अर्नाल्ड कवि और आलोचक होने के साथ एक अध्यापक थे। इसीलिए काव्य की चर्चा करते समय उनके

सामने एक सामाजिक परिदृश्य भी रहा। उन्हें आधुनिक अंग्रेजी आलोचना का युग—प्रवर्तक माना जाता है। 1849 ईस्वी में इनका पहला काव्य संग्रह प्रकाशित हुआ तथा 1865 में इनका आलोचना ग्रन्थ 'एसेज इन क्रिटिसिज़्म' प्रकाशित हुआ। इंग्लैंड में यह युग विज्ञान और उद्योग की प्रगति का युग था। इंग्लैंड एक साम्राज्यवादी शक्ति बन चुका था। विश्व के अनेक भूभागों पर इंग्लैंड का शासन स्थापित हो चुका था। भौतिक समृद्धि इंग्लैंड वासियों के चरणों का स्पर्श कर रही थी। ऐसे वातावरण में मैथ्यू अर्नाल्ड ने घोषणा की कि साहित्य और कविता को जीवन की आलोचना और व्याख्या में समर्थ होना चाहिए। **More and more mankind will discover that we have to turn to poetry to interpret life for us, console us, to sustain us.**

इस प्रकार मैथ्यू अर्नाल्ड का चिन्तन एक और समाज में व्याप्त कुरीतियों से दुखी था तो दूसरी और वह इन कुरीतियों के समाधान के लिए कविता को अनिवार्य उपकरण के रूप में देख रहा था। उसके अनुसार जीवन की व्याख्या और आलोचना कविता का मुख्य प्रयोजन था। मैथ्यू अर्नाल्ड जीवन की उन सभी विशेषताओं से दुखी था जो उसकी समकालीन सभ्यता की अनिवार्य चिह्नक थीं। यह सभ्यता पूर्णरूप से भौतिक लक्ष्यों पर केन्द्रित थी। मैथ्यू अर्नाल्ड ने इस सभ्यता को अपूर्ण जीवन के लक्षण कहा। उसके अनुसार एक व्यापक और मानवीय संस्कृति ही मनुष्य के लिए कल्याणकारी हो सकती थी। अर्नाल्ड के अनुसार मानव जीवन की पूर्णता का नाम संस्कृति है और इसकी प्राप्ति काव्य द्वारा ही हो सकती है। कहा जाता है कि जिस प्रकार एक उच्छृंखल व्यक्ति को सही रास्ते पर लाने का प्रयास किया जाता है, ऐसा ही प्रयास अर्नाल्ड ने साहित्य और समाज में करना चाहा। अर्नाल्ड मानव समाज को विभाजित करके नहीं देखता था। वह मनुष्य के ऐसे कार्य—व्यापारों को महत्त्व देता है जो मानव मात्र के लिए शाश्वत हैं। इस प्रकार एक ऐसी संस्कृति का निर्माण जो शाश्वत मानव—मूल्यों पर आधारित हो, काव्य का श्लाघनीय प्रयोजन है।

मैथ्यू अर्नाल्ड इस बात से दुखी था कि उस समय के अधिकांश लोग दूसरों से अधिक धनी होने में ही अपना गौरव मानते थे। अर्नाल्ड ने ऐसे लोगों को संस्कृति विहीन लोग कहा। 1869 ईस्वी में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'संस्कृति और अराजकता' (Culture and Anarchy) प्रकाशित हुई जिसमें जीवन को सुसंस्कृत बनाने वाली आध्यात्मिक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने पर जोर दिया गया ताकि मनुष्य प्रेम, सुरुचि और आह्लाद की विशेषताएं पैदा कर सकें, उनका विकास कर सकें, इन्हें अपना सकें।

अर्नाल्ड का कहना था कि मनोरंजन प्रदान करना ही कवि और काव्य का उद्देश्य नहीं हो सकता। उसके अनुसार, 'वही कविता श्रेष्ठ है जिसमें निर्माण करने, पोषण करने और आनन्द प्रदान करने की क्षमता हो। आह्लाद, मनोरंजन, आनन्द की कसौटी यह है कि वह मनुष्य के जीवन का परिष्कार करे। उदात्त मूल्यों की प्रतिष्ठा ही संस्कृति और काव्य का लक्ष्य है। माधुर्य और आलोक संस्कृति के दो विशिष्ट गुण हैं। अभिप्राय यह कि मैथ्यू अर्नाल्ड काव्य के प्रयोजक के रूप में एक ऐसे मनोरंजन की मांग करता है जो मनुष्य को एक मानवीय संस्कृति के अंग के रूप में प्रस्तुत करे, जिसके आलोक में मनुष्य एक सच्चा मनुष्य बन सके।

मैथ्यू अर्नाल्ड ने बहुत साफ और जोरदार ढंग से काव्य और जीवन के आपसी सम्बन्ध की आवश्यकता स्थापित की। मनोरंजन काव्य का उद्देश्य है किन्तु जिसे अर्नाल्ड मनोरंजन कहता है, वह सामान्य मन—बहलाव नहीं है। इस स्तर का साहित्य अर्नाल्ड की दृष्टि में साहित्य है ही नहीं। साहित्य तो वह है जो आनन्द प्रदान करके मनुष्य को

एक सांस्कृतिक प्राणी के रूप में जीने की क्षमता प्रदान करे। उत्कृष्ट काव्य वह है जो उत्कृष्ट आनन्द का सृजन करता है।

काव्य जीवन को अधिक सुन्दर बनाता है। इसका प्रयोजन मानव संस्कृति का निर्माण करना, स्वार्थों से मुक्ति प्रदान करना और एक मूल्य-आधारित समाज का निर्माण करना है। मानवता के साथ पशुता का भी अस्तित्व रहता है। काव्य का प्रयोजन यही है कि वह पशुता से मुक्ति दिलाकर मनुष्य का परिसंस्कार करे।

इस प्रकार अर्नाल्ड नैतिकता को काव्य के एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन के रूप में स्वीकार करता है। कला के लिए और कला जीवन के लिए— दो सिद्धान्तों के संघर्ष में अर्नाल्ड कला की सिद्धि जीवन के सुधार में ही मानता है। जीवन के साथ साहित्य का यह संबंध किसी भी प्रकार उस प्रयोजन से भिन्न है जिसके अन्तर्गत साहित्य को राजनीति के प्रचार का उपकरण माना जाता है। राजनीति या राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति अर्नाल्ड द्वारा प्रस्तुत काव्य-प्रयोजनों के संदर्भ में कहीं नहीं आती। अर्नाल्ड मानव जीवन को एक सांस्कृतिक समग्र के रूप में देखता है और इसी आदर्श की स्थापना कविता का प्रयोजन है।

साहित्य के सृजन में दो प्रकार की क्षमताओं की भूमिका होती है—सृजन की शक्ति तथा युग की प्रवृत्तियाँ। कवि के पास युगीन प्रवृत्तियों की समीक्षा करने की भी शक्ति होती है। अपनी सृजनात्मक प्रतिभा के बल पर वह युगीन प्रवृत्तियों को ऐसी दिशा दे सकता है जो मानव समाज को परस्पर प्रेम और सहयोग जैसे गुणों के सूत्रों में बांध देती है।

17.4 मैथ्यू अर्नाल्ड : काव्य और नैतिकता

साहित्य में आधुनिकता के संदर्भ में मैथ्यू अर्नाल्ड लिखते हैं:—

एक बार महान विचारक बुद्ध के समक्ष उनका एक शिष्य प्रस्तुत हुआ। वह अपनी तपस्या और साधना के अंतिम प्रकरण में कोई कठिन कार्य करने की अनुमति मांग रहा था। बुद्ध ने शिष्य से कहा— 'तो जाओ 'पूर्ण', तुमने मुक्ति प्राप्त कर ली है; अब अन्य लोगों को मुक्ति प्रदान करो। तुम्हें संतुष्टि प्राप्त हो चुकी है, अब औरों को सांत्वना दो। तुम स्वयं तो किनारे पर पहुंच गए हो, अब दूसरों को भी भवसागर की कठिनाइयों को पार करने में सहायता दो।'

इस संदर्भ पर अपनी टिप्पणी करते हुए अर्नाल्ड कहते हैं कि जिस युग में बुद्ध ने मुक्ति की बात की थी, वह एक नैतिक तल की मुक्ति थी, वह मुक्ति अहंकार, क्रोध, स्वार्थ जैसे तत्त्वों से मुक्त होने का संकेतक थी। दूसरी ओर आधुनिक युग में मनुष्य एक अन्य प्रकार की मुक्ति की खोज में व्यस्त है। सारी मानव जाति एक बौद्धिक मुक्ति की तलाश में व्याकुल है।

मैथ्यू अर्नाल्ड का युग धनलोलुपता का युग था। मनुष्य के सभी प्रयास भौतिक वैभव की प्राप्ति के लिए लक्षित थे। अर्नाल्ड इस स्थिति से चिन्तित था। वह काव्य को ऐसे उपकरण के रूप में प्रस्तुत करना चाहता था जो मनुष्य को स्वार्थ और लोलुपता की सीमाओं से मुक्ति दिला सके। इंग्लैंड उस समय एक सार्वभौमिक शक्ति थी। इस देश के वासी संसार के अन्य भूभागों में रहने वाले मनुष्यों को हीन दृष्टि से देखते थे, असभ्य मानते थे। अर्नाल्ड ने, ऐसी परिस्थिति में एक वैश्विक संस्कृति का स्वप्न देखा। यह संस्कृति मानव-मूल्यों पर आधारित होगी और ये मूल्य एक

देश या समय के लिए नहीं होंगे।

माना जा सकता है कि अर्नाल्ड के विचार ईसाई धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित थे। वह एक ऐसे परिवेश में रहता था जहां ईसाइयत ही प्रमुख धर्म था। ऐसे में यदि उसकी नैतिकता सम्बन्धी धारणाएं बाइबल से प्रभावित हुई हों तो हमें न तो आश्चर्य करना चाहिए, न ही इसके लिए अर्नाल्ड किसी प्रकार की भर्त्सना का अधिकारी है।

अर्नाल्ड काव्य को किसी समुदाय विशेष से जोड़ कर नहीं देखता। वह नैतिक मूल्यों की स्थापना कविता का मुख्य प्रयोजन मानता है। लेकिन उसकी नैतिकता संबंधी धारणा सार्वदेशिक है। अर्नाल्ड मानता था कि काव्य के विषयों का चुनाव ऐसा होना चाहिए कि साहित्य देश और काल की सीमाओं को लांघ कर शाश्वत काव्य की कोटि प्राप्त कर सके। अर्नाल्ड मानता था कि कवि को उत्कृष्ट विषयों का चयन करना चाहिए। श्रेष्ठ कार्य और विषय वही होते हैं जो मानव मात्र के लिए कल्याणकारी होते हैं। जिसे समाज का उच्च वर्ग कहा जाता है, वह स्वार्थी होता है। काव्य को ऐसे मानव-समुदाय के कल्याण का लक्ष्य अपने सामने रखना चाहिए जो श्रेष्ठ सामाजिक गुणों को ग्रहण करने के लिए तैयार है। अर्नाल्ड साहित्य को समाज की आलोचना मानता है। वह आलोचक को भी निर्देश देता है कि उसी साहित्य को श्रेष्ठ घोषित करे जो विशाल मानव-संस्कृति की स्थापना में सहायक हो।

अर्नाल्ड मानता है कि कवि और आलोचक को एक धर्मोपदेशक के उत्साह के साथ काव्य का निर्णय करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि कवि और आलोचक नैतिक सिद्धान्तों की अनदेखी न करे। वे सजग रहें कि कहीं नैतिकता को हानि पहुंचाने वाले साहित्य की रचना तो नहीं हो रही। आलोचक समाज के प्रति ही नहीं, काव्य के प्रति भी उत्तरदायी है। यदि आलोचक नैतिक आग्रहों से समझौता नहीं करता तो साहित्य भी समाज में व्याप्त कुरीतियों को महिमा मंडित करने का साहस नहीं करेगा।

अर्नाल्ड उस यथार्थ के चित्रण को महत्त्व नहीं देता जो कुरूप है और जिसका मानव-मन पर श्रेष्ठ प्रभाव नहीं होता। काव्य समाज का चित्रण ही नहीं करता, उसकी आलोचना भी करता है। यह आलोचना ही साहित्य को श्रेष्ठ साहित्य बनाती है।

अर्नाल्ड की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने साहित्य को व्यापक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में देखा। उसके अनुसार मनुष्य के कल्याण-साधक मूल्य सभी देशों और कालों में अपरिवर्तित रहते हैं। काव्य इन्हीं मूल्यों की खोज और स्थापना करता है।

17.5 सारांश :

भौतिकतावादी अराजकता से समाज को मुक्ति दिला कर एक सांस्कृतिक विश्व की स्थापना अर्नाल्ड का उद्देश्य है। संस्कृति के वह दो गुण मानता है— माधुर्य और प्रकाश। सारे समाज को श्रेष्ठ विचारों से परिपूर्ण करना ही अर्नाल्ड की दृष्टि में काव्य और काव्यालोचन का उद्देश्य है। अर्नाल्ड की विचारधारा बहुत हद तक प्लेटो जैसे दार्शनिक से मिलती-जुलती है। यदि प्लेटो ने होमर जैसे कवियों को अपनी 'रिपब्लिक' से बहिष्कृत करना चाहा तो अर्नाल्ड ने भी बहुत से श्रेष्ठ साहित्यकारों की कटु आलोचना की। प्लेटो के विचार उसकी समकालीन परिस्थितियों से उपजे थे। ऐसा ही अर्नाल्ड के बारे में भी कहा जा सकता है। किन्तु अर्नाल्ड ने जिस समाज को दृष्टि में रखकर बात की, वह

एक देशीय नहीं था।

अर्नाल्ड मानता था कि मनुष्य की बौद्धिक उच्चता तथ्यों की निष्पक्ष ढंग से पूर्वग्रहमुक्त समीक्षा शक्ति में निहित है।

17.6 कठिन शब्द :

- | | |
|---------------|----------------|
| 1. श्लाघनीय | 2. शाश्वत |
| 3. उच्छृंखल | 4. परिदृश्य |
| 5. निष्पक्ष | 6. समीक्षा |
| 7. बहिष्कृत | 8. माधुर्य |
| 9. परिसंस्कार | 10. अविच्छिन्न |

17.7 अभ्यासार्थ प्रश्न :

प्र1. कविता जीवन की आलोचना है। अर्नाल्ड की इस परिभाषा को स्पष्ट करें।

प्र2. मैथ्यू अर्नाल्ड की काव्य संबंधी मान्यताओं पर विचार व्यक्त करें।

17.8 संदर्भ ग्रंथ/पुस्तकें :

1. डॉ. देवेन्द्र नाथ शर्मा – पाश्चात्य काव्यशास्त्र
2. राम सेवक सिंह – मैथ्यू आर्नाल्ड
3. डॉ नगेन्द्र एवं डॉ सावित्री सिन्हा – पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा।

.....

टी. एस. इलियट : परम्परा और निर्वैयक्तिकता

- 18.0 रूपरेखा
- 18.1 उद्देश्य
- 18.2 प्रस्तावना
- 18.3 परम्परा और निर्वैयक्तिकता
- 18.4 वस्तुनिष्ठ सहसम्बन्ध
- 18.5 काव्य-भाषा
- 18.6 काव्य प्रयोजन
- 18.7 कविता और नैतिकता
- 18.8 सारांश
- 18.9 कठिन शब्द
- 18.10 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 18.11 सन्दर्भग्रन्थ/पुस्तकें

18.1 उद्देश्य :

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- टी. एस. इलियट के समीक्षा सिद्धान्त से अवगत होंगे ।
- इलियट की परम्परा संबंधी अवधारणा को समझ सकेंगे ।
- उनके निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत को जान सकेंगे ।
- इलियट की काव्य भाषा एवं काव्य प्रयोजन से अवगत होंगे ।

18.2 प्रस्तावना :

विख्यात कवि, नाटककार तथा आंग्ल-अमरीकी 'नयी आलोचना' के जनक टी. एस. इलियट का जन्म 26 सितम्बर, 1888 ई. को सेंट लुई, (अमरीका) के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ और उनकी मृत्यु 4 जनवरी, 1965 ई. को लंदन में हुई। वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रो. इर्विंग बेबिट के शिष्य थे। एफ. एच. ब्रैडले के दर्शन पर उनका शोधप्रबंध, उनकी मृत्यु के उपरांत, 'नॉलिज एंड एक्सपीरिएंस' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। सन् 1948 में उन्हें साहित्य का 'नोबेल पुरस्कार' और 'ब्रिटिश ऑर्डर ऑफ मेरिट' (ओ. एम.) की उपाधि मिली। वे दो बार अमरीकी विश्वविद्यालयों में विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में आमंत्रित किये गये। उन्हें अनेक साहित्यिक सम्मान मिले। इलियट की काव्य-रचनाओं में 'द लव साँग आफ एल्फर्ड प्रूफॉक' (1915), 'द वेस्ट लैंड' (1922) और 'फोर क्वाट्रेट्स (1943) तथा नाटकों में 'मर्डर इन द कैथिड्रल' (1935), 'द फेमिली रियूनियन' (1939) और 'द काकटेल पार्टी' (1950) विशेष लोकप्रिय हुए। समालोचना में उनकी 'द सेक्रेड वुड' (1920), 'होमेज टु जॉन ज़ाइडन' (1924) 'एलिजाबेथेन एसो' (1932), 'द यूज ऑफ पोएट्री एंड द यूज ऑफ क्रिटिसिज़्म' (1933), 'सेलेक्टेड एसो' (1934) और 'एसेज : एन्शेंट एंड मॉडर्न' (1936) विशेष प्रसिद्ध हुईं।

समालोचक के रूप में इलियट एक ऐसा चिंतक था, जिसने व्यवस्थित सिद्धांत निरूपण नहीं किया, पर अपनी पीढ़ी की रुचि और विचारों को बहुत-दूर तक प्रभावित किया। उनके ध्यान का केंद्र थे मेटाफिज़िकल कवि तथा एलिजाबेथेन और जेकोबियन युग के नाटक। काव्यात्मक अंतर्दृष्टि से कल्पना का संधान करने वाले इलियट का रुझान सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धान्त तथा जीवन के नियम के तौर पर 'क्लासिकी संयम' की ओर था।

कविता को कविता के रूप में देखने की कालत इलियट लंबे समय तक करते रहे। कविता को कवि से मुक्त, एक निर्वैयक्तिक, रचना के रूप में ग्रहण करने की मांग इलियट ने केवल कवि की दृष्टि से ही नहीं की, वे आलोचक से भी इस निर्वैयक्तिक भाव की अपेक्षा करते थे। जिस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में कविता के सहृदय पाठक के लिए पूर्वाग्रह-मुक्ति एक अनिवार्य शर्त है, लगभग उसी प्रकार, इलियट ने काव्यास्पद के लिए इस बात की आवश्यकता पर बल दिया है कि "साहित्य के आलोचक के मन में कलाकृति के द्वारा संप्रेरित संवेगों के अतिरिक्त किसी और संवेग की उपस्थिति नहीं होनी चाहिए।"

कवि-पक्ष में जो निर्वैयक्तिकता सृजन के लिए आवश्यक है, वही आलोचक में आस्वाद और विश्लेषण के लिए अनिवार्य है। इलियट के अनुसार, भोक्ता-व्यक्ति और रचयिता-कलाकार के बीच दूरी के समानांतर कला की श्रेष्ठता के अनुपात में वृद्धि होती है, ठीक उसी प्रकार कलाकृतियों का अनुशीलन करते समय आलोचक को भी हर प्रकार के इतर मुलाहिजों से, यहां तक कि अपनी अनुवांशिक विरासत से भी मुक्त, केवल पाठक होना चाहिए : "कलास्वाद के लिए यह अनिवार्य है कि कलाओं का अनुशीलन करते समय व्यक्ति सब-कुछ का, यहाँ तक कि अपने वंश-वृक्ष का भी संवरण करके इस कार्य में प्रवृत्त हो। आवश्यक है कि कलाओं का उपभोक्ता-सहृदय किसी परिवार, जाति, दल या वर्ग का सदस्य न होकर आत्मस्थित पाठक-मात्र हो।"

किसी समय रचना और आलोचना, दोनों के लिए व्यक्तित्व के अतिक्रमण का समर्थन करने वाले इलियट 'द यूज ऑफ पोएट्री' तक पहुँचते-पहुँचते यह अनुभव करने लगे थे कि अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण न कवि के लिए संभव

है और न आलोचक के लिए। वे मानते थे कि अच्छे और बुरे लेखन के प्रतिमान हमारी रुचि-अरुचि से परे होते हैं। इसी प्रकार कविता में शाश्वत तत्त्व समान होते हैं, परंतु “इस समान तत्त्व के निरूपण का हर प्रयत्न समय, स्थान और व्यक्ति की सीमाओं में बँधा होता है और ये सीमाएँ इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उद्घाटित होती हैं।”

18.3 परम्परा और निर्वैयक्तिकता

1. परम्परा से इलियट का तात्पर्य एक समुदाय के व्यक्तियों के रक्त-सम्बन्ध में व्यक्त होने वाले सभी स्वाभाविक कार्यों एवं रीति-रिवाजों से है, जो उसकी संस्कृति होते हैं। इनसे ही उसके जातीय जीवन-दर्शन, कला और साहित्य आदि अनुस्यूत होते हैं। इस प्रकार, इलियट ने परम्परा को संस्कृति के पोषक-रूप में स्वीकार किया है। यह सांस्कृतिक भाव-धारा किसी काल-विशेष की उपज अथवा किसी काल-विशेष के हेतु नहीं होती। इसका प्रवाह तो अविच्छिन्न एवं अबाध होता है।

इलियट के अनुसार, कुछ लोग परम्परा का अर्थ ही गलत लगा लेते हैं। वे उसे अतीत-वर्तमान के रूप में ही मानते हैं, किन्तु परम्परा तो अतीत को वर्तमान से सम्बद्ध करती है। किसी उत्कृष्ट कला-कृति के मूल्यांकन का अर्थ होता है- समस्त पुरातन कलाकृतियों का परिशीलन एवं पुनर्मूल्यांकन। कवि और परम्परा के सम्बन्ध में इलियट की एक निश्चित धारणा थी। उसका कहना था कि किसी भी कवि के निज की महत्ता व उसकी प्रशंसा, पूर्ववर्ती मृत-कवियों के संदर्भ से ही, स्पष्ट होती है। जब तक हम उसकी तुलना नहीं करते, उसका महत्त्व नहीं आंक सकते।

वस्तुतः, परम्परा एक जीता-जागता अस्तित्व है। एक युग की मान्यताओं के विरोध में क्रांतिकारी स्वरो का उद्घोष, परम्परा के अस्तित्व के लिए घातक न होकर, उसके विकास एवं गति का सूचक है। ये क्रांतियाँ परम्परा की वृद्धि के लिए अनिवार्य तत्व हैं। परम्परा का विकास पूर्णता का सूचक नहीं, अपितु उसकी वृद्धि एवं घनत्व का द्योतक है। युग-विशेष अपनी रुचियों के आधार पर अपने विचारों, अपनी मान्यताओं का निर्माण कर, पिछले युग की आलोचना करता हुआ, उनके प्रतिपादन में अपना पूरा प्रयत्न करता है। आने वाला युग भी ऐसा ही करता है। इस प्रकार, परम्परा अपने जीवित कर्णों को इन आंदोलनों से सिंचित करती हुई, काल पर पद-चिह्न छोड़ती हुई, आगे बढ़ती चली जाती है।

2. निर्वैयक्तिकता : इलियट ने परम्परा के जीवन्त विकास को अधिक महत्त्व देकर उसके आधार पर कई काव्य-मत प्रतिपादित किए। परम्परा के जीवन्त विकास को महत्त्व देने से सृजन में आत्मनिष्ठ (Subjective) अंश स्वयं गौण हो जाता है और वस्तुनिष्ठ (Objective) अंश को प्रमुखता प्राप्त हो जाती है। इलियट ने इसीलिए सृजन को निर्वैयक्तिक (Impersonal) निरूपित किया। इस संदर्भ में उन्होंने जो कुछ कहा है, उसे पश्चिम में और आधुनिक हिन्दी-क्षेत्र में बड़ा महत्त्व प्राप्त हुआ है।

सामान्यतः यह समझा जाता है कि कवि अपने वैयक्तिक भावों एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करता है, किन्तु इलियट ने इन दोनों ही बातों का खंडन किया है। उसके विचार से न तो कविता में कवि की वैयक्तिकता रहती है और न ही भावों की अभिव्यक्ति। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए इलियट ने काव्य की सृजन-प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहा है, “वस्तुतः कवि के मस्तिष्क में अनगिनत भाव, अनुभूतियाँ, शब्दावलियाँ, बिम्ब आदि भरे रहते हैं और जब तक वे काव्य में व्यक्त नहीं हो जाते, वहीं रहते हैं। किन्तु जब वे घुलमिल कर कविता के रूप में व्यक्त

हो जाते हैं तो उनका स्वरूप कुछ-और ही हो जाता है। उन सब तत्त्वों के मिश्रण से जो नयी वस्तु सृजित होती है, वह अपने सभी घटक तत्त्वों से भिन्न होती है। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि कवि के भाव, विचार, अनुभव, अनुभूतियाँ, बिम्ब एवं प्रतीक आदि अपने मूल रूप में व्यक्त न होकर एक ऐसे नये रूप में व्यक्त होते हैं, जो किसी भी घटक-तत्त्व के पूर्ववर्ती रूप से मेल नहीं खाता। जिस प्रकार एक स्वादिष्ट चटनी में नमक, मिर्च, खटाई, पोदीना आदि न-जाने कितने पदार्थ मिश्रित रहते हैं, किन्तु यदि हमें पूछा जाये कि इस चटनी का स्वाद नमक जैसा है या मिर्च जैसा अथवा खटाई जैसा, तो इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर होगा कि उसका स्वाद इन सभी से भिन्न है। वह एक ऐसा नया स्वाद है, जो इन सबमें से किसी भी एक में नहीं मिलता। यही बात कविता पर लागू होती है। इसलिये इलियट ने कहा है, "कविता के माध्यम से हम भावों की अभिव्यक्ति नहीं करते, अपितु उनसे मुक्ति प्राप्त करते हैं या उनसे पलायन करते हैं। भाव ही नहीं, कविता के माध्यम से कवि अपनी वैयक्तिकता की सीमाओं से भी मुक्त हो जाता है। उसका स्वर एक व्यक्ति का स्वर न रहकर विश्वमानव का सार्वजनिक स्वर बन जाता है।"

इलियट ने साहित्य में रोमानी भावगत मूल्यों के विरुद्ध प्राचीन वस्तुगत एवं तटस्थ दृष्टिकोण का समर्थन किया है। उनके अनुसार, काव्य की रचना एक निर्वैयक्तिक साधना है। इसमें कवि को कलात्मक उद्देश्य के प्रति पूर्णतः आत्मसमर्पण करना पड़ता है। इसीलिए कविता आत्माभिव्यक्ति न होकर आत्म से पलायन है। कविता, व्यक्तित्व का अनवरत निषेध होने के कारण, कला की रचना है, कवि के मनोवेगों का उद्गार नहीं है। स्पष्ट है कि कला की निर्वैयक्तिकता में इलियट का गहरा विश्वास था। अपने आदर्श 'एज़रा पाउण्ड' की भांति वह भी कला की वस्तुनिष्ठता का समर्थक था। कुशल कलाकार उसकी दृष्टि में वही था, जिसके मन में भोगने वाले प्राणी और रचयिता के बीच अन्तर का विचार होगा। कवि के पास अभिव्यक्त करने के लिए कोई व्यक्तित्व नहीं होता, वह तो केवल माध्यम है। इलियट के ही शब्दों में, "कविता की भावनाएँ या संवेदनाएँ या उसके बिम्ब कवि की भावनाओं, संवेदनाओं एवं उसके अन्तर में निर्मित बिम्बों से सर्वथा पृथक् होते हैं।" व्यक्ति के लिए जो अनुभव या प्रभाव मुख्य होते हैं, कविता के लिए वे मुख्य नहीं भी हो सकते। साथ ही, जो कविता के अनुभव-प्रभाव हैं, उनका मानव-जीवन पर प्रभाव ही न हो, ऐसा भी हो सकता है।

अनुभव, जब तक वह कला के क्षेत्र में नहीं आता, व्यक्तिनिष्ठ है, किन्तु जब वह कला की वस्तु बन जाता है, तब उसे स्वयं को परिवर्तित करना होता है और उसके लिए अपने निजी अर्थ को साधारण बनाना अनिवार्य हो जाता है। कविता के अनिजत्व का तात्पर्य है कि वह कभी भी आत्म-प्रकाशन न हो, वरन् ऐसे अनुभव का प्रकाशन हो, जो कवि का नहीं है। इसका अर्थ है कि अनुभव को अव्यक्तिगत बनाना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, अनुभव कवि को आदेश देता है कि तुम माध्यम हो, कोई रूप खोजकर मुझे अभिव्यक्ति दो। इस आदेशानुसार कवि चरित्र खोजता है या स्वयं कोई मुखौटा लगा लेता है और न-केवल अनुभव के आदेश का पालन करता है, बल्कि, साथ ही, अन्तर्निहित भावनाओं को अभिव्यक्त करने का साधन भी बना लेता है।

इलियट काव्य को व्यक्तित्व नहीं मानता, उसे भावों की अभिव्यंजना भी नहीं मानता, अपितु काव्य को वह एक ऐसा साधन मानता है, जिसके द्वारा व्यक्तित्व और भावों से कवि का आरक्षण हो सके। कलाकार की उन्नति निरंतर आत्म-बलिदान और निरंतर व्यक्तित्व के परिहार में निहित है। यह आत्म-बलिदान और व्यक्तित्व-परिहार परम्परा के नियमित रूप से ग्रहण करने पर ही संभव हो सकता है। इस प्रकार, परम्परा के तत्त्वों के सन्निवेश के कारण उसकी

रचना में वह शक्ति आ जाती है, जिससे श्रोता अथवा पाठक मुग्ध होकर उसे अपना ही मानने लग जाता है।

कवि जो—कुछ कहना चाहता है, उसको सुनने के लिए श्रोता भी चाहिए। वह शून्य में अपने रागों का संधान नहीं करता, बल्कि समाज के धरातल पर अपने गीतों का अवतरण करता है। यदि कवि अपनी ही गाथा को अपने एकांतिक रूप में निरन्तर गति से गाता चला जाय और सुनने वाले की रुचि एवं उत्सुकता का ध्यान न रखे, तो साहित्य केवल पृथक्-पृथक् रचनाओं के समूह से आक्रान्त होकर निर्जीव हो जाएगा। इससे साहित्य की रक्षा के लिए कवि का अतीत की भावना से सदैव संयुक्त रहना नितांत अनिवार्य है— “अधिक बलयुक्त बात यह है कि कवि को अतीत की सचेतना अवश्य विकसित अथवा सुरक्षित करनी चाहिए और उसे चाहिए कि वह जीवन भर इस चेतना के विकास को गतिमान रखे।”

कवि का अतीत से सम्बन्ध, इलियट के अनुसार, अनिवार्य है, किन्तु इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य तीन बातें हैं— प्रथम तो कवि को अतीत का ग्रहण खण्ड-रूप में नहीं करना चाहिए, फिर उसकी एक-दो विशेषताओं के ग्रहण से ही संतुष्टि नहीं माननी चाहिए और, अन्त में, उसे किसी काल-विशेष से मोह न रखकर अतीत की समग्रता में व्याप्त परम्परा के जीवन-परमाणुओं की खोज करनी चाहिए। अतीत की एकसूत्रता में वर्तमान को रखते हुए, उसकी समस्याओं के सरलीकरण के लिए, अतीत की वर्तमानता का आलोक अनिवार्य है— “अतीत और वर्तमान का अन्तर यह है कि वर्तमान की चेतना एक रूप में अतीत की जागरूकता है, जिसे एक सीमा तक कवि की जागरूकता भी प्रकट नहीं कर सकती।”

इलियट के अनुसार, काव्य की चेतना व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत है। यदि काव्य में भाव का स्थान है, तो वह विषयगत न होकर घटनाओं पर अवलम्बित होता है। इलियट का यह ‘अव्यक्तिगत सिद्धान्त’ उसकी अपनी परम्परा की विचारधारा से निःसृत है।

इलियट के अनुसार, निर्वैयक्तिक कला के सिद्धान्त का दूसरा पक्ष है— कवि और कविता का सम्बन्ध। इलियट ने काव्य-सृजन का क्रम प्रस्तुत करते हुए रासायनिक प्रक्रिया के साथ उसकी तुलना की है। जब ऑक्सीजन और सल्फरडाइआक्साइड, दोनों रासायनिक वस्तुएँ प्लेटिनम के तार के संपर्क में आती हैं, तो वे सल्फ्यूरिक एसिड के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। यह तभी संभव है, जब प्लेटिनम मौजूद हो, किन्तु इससे प्लेटिनम में कोई परिवर्तन नहीं होता। यद्यपि इसके बिना कोई रासायनिक परिवर्तन भी नहीं हो सकता। वह प्लेटिनम निष्क्रिय, तटस्थ और अपरिवर्तित रहता है। ‘ट्रैडीशन एण्ड इण्डिविजुअल टेलैण्ट’ में इलियट कहता है, “कवि का मस्तिष्क इस प्लेटिनम के टुकड़े की भांति होता है। व्यक्ति के अनुभव को यह पूर्णतः या अंशतः प्रभावित कर सकता है, परन्तु कलाकार जितना सिद्धहस्त होगा, उतने ही उसमें भोक्ता-मानव और स्रष्टा-मस्तिष्क अलग रहेंगे।”

बस, इसी उपमा को बहुत-दूर तक सृजन के ऊपर घटित करते हुए इलियट ने कई ऐसे वाक्य लिखे हैं, जो नये स्रष्टाओं के मुख से नारा बनकर गूँजते-अनुगूँजते चले जा रहे हैं, जैसे, “कला व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, वरन् उससे पलायन है,” “व्यक्तिगत भावों का प्रकाशन कला नहीं है, वरन् उनसे पलायन कला है,” “जब तक ऊपरी ढक्कन फूट न जाय, तब तक हम नहीं जान पाते कि उसके भीतर क्या है,” “निजता-त्याग तथा निजता का निरंतर निषेध कवि के सृजन की प्रक्रिया है,” “कविता लिखने का अनुभव दर्शन नहीं, वरन् एक प्रक्रिया है, जो कागज़ पर

शब्द-संयोजन में विश्रान्त होती है," "भावों की महानता और तीव्रता नहीं, वरन् सृजन-प्रक्रिया के उस दबाव की उत्कटता महत्त्वपूर्ण होती है, जिसके कारण रचना की उत्पत्ति होती है," आदि-आदि।

लेकिन सन् 1940 में 'यीट्स' के विषय में समीक्षात्मक भाषण देते समय उन्होंने कला की निर्वैयक्तिकता से सम्बन्धित अपने उपर्युक्त मतों को स्मरण करके कहा कि "मैंने अपने प्रारम्भिक लेखों में कला की निर्वैयक्तिकता को स्वीकार किया है, लेकिन उस समय शायद मैं अपना मन्तव्य ठीक से व्यक्त न कर सका था, या वह मेरा अप्रौढ़ बोध रहा। अब मैं सोचता हूँ कि निर्वैयक्तिकता के दो रूप होते हैं- कुशल शिल्पी की निर्वैयक्तिकता और वास्तविक स्रष्टा की निर्वैयक्तिकता।" तात्पर्य यह है कि एक निर्वैयक्तिकता शिल्प होती है और दूसरी सृजन। यह दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस स्रष्टा की होती है, जो अपने तीव्र एवं वैयक्तिक अनुभवों के भीतर से सामान्य सत्य को उजागर करने में समर्थ होता है और साथ ही, अपने अनुभव की सम्पूर्ण विशिष्टता को भी बनाए रख सकता है। भारतीय पाठक को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि विशिष्ट को बनाये रखकर उसके द्वारा (तत्काल) सामान्य को प्रकाशित करने को ही 'साधारणीकरण' निरूपित किया गया है। जिसके पास वह विशिष्ट नहीं होगा और जिसमें उस विशिष्ट द्वारा सामान्य को प्रकाशित करने का सृजन-नैपुण्य नहीं होगा, वह सच्चे अर्थ में स्रष्टा नहीं माना जा सकता। कहना न होगा कि इस विषय में इलियट और अभिनवगुप्त एकमत हैं।

18.4 वस्तुनिष्ठ सहसम्बन्ध :

जब इलियट कवि-चेतना को व्यक्तित्व की अपेक्षा माध्यम की संज्ञा देते हैं, तो वे व्यक्ति और कवि के पृथक्करण पर बल देते हैं। फलतः वे अनुभूति और कला के पृथक्करण को आवश्यक मानते हैं, क्योंकि व्यक्ति और अनुभूति तो परम्परा के बिना भी अपना अस्तित्व रख सकते हैं, लेकिन कवि और कला नहीं। अनुभूति कला में प्रविष्ट होकर अपने वैयक्तिक अर्थ को खो बैठती है और अधिक व्यापक स्तर पर उसका स्वरूप बदल जाता है। यह कैसे घटित होता है, इसका पता कला से और उसका महत्त्व इतिहास से जाना जा सकता है। इस साध्य की पूर्ति के लिए कवि को मुखौटा पहनना होता है, जो उसकी चेतना में दबे बिम्बों को भी व्यक्त कर सकता है। इसलिए कविता एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के प्रति लिखी गयी कोई बात-मात्र नहीं है, बल्कि वह एक ऐसी संरचना है, जिससे कवि का अस्तित्व नहीं रहता, बल्कि कवि अनुभूति का ऐसा माध्यम बन जाता है जो सभी पाठकों से सम्बन्ध रखती है। इलियट के अनुसार, "शेक्सपियर भी इसी जीवन-सहेजक संघर्ष से जूझता रहा, ताकि वह अपनी वैयक्तिक और निजी पीड़ा को किसी समृद्ध, वैश्विक और निर्वैयक्तिक स्तर पर सम्प्रेषित कर सके।"

'हेमलेट' नाटक की समीक्षा करते हुए इलियट ने लिखा है कि "कला की दृष्टि से यह नाटक एक असफल कृति है। यह नाटक माँ के अपराध का पुत्र पर पड़े प्रभाव का प्रदर्शन करता है। परन्तु नाटक की प्राचीन वस्तु को उपयुक्त रूप प्रदान करने में शेक्सपियर असफल रहा। कला में भाव (चित्तवृत्ति विशेष) के प्रकाशन का एक ही मार्ग है कि उसका उचित वस्तुनिष्ठ समीकरण (Objective Co-relative) प्रस्तुत कर दिया जाये। दूसरे शब्दों में, एक ऐसी वस्तु-संघटना, स्थिति या घटना-शृंखला सामने रखी जाये, जो उस भाव का सूत्र (Formula) हो, ताकि ये बाह्य तथ्य, जिनका पर्यवसान मूर्त मानस-अनुभव में हो, जब प्रस्तुत किये जायें तो तुरन्त भावोद्देक हो जाय। "भाव के इस बाह्य विधान की उपयुक्तता सृजन के सफल होने के लिए अनिवार्य है। 'हेमलेट' की विक्षुब्धि उसकी माँ के कर्मों के कारण है, किन्तु उसकी माँ उसकी

विक्षुब्ध चित्तवृत्ति के लिए उपयुक्त 'समीकरण' (Equivalent) नहीं है। उसकी वह चित्तवृत्ति माँ को लौंघकर आगे बढ़ जाती है। अतएव वह अपनी उस चित्तवृत्ति को स्वयं समझ नहीं पाता, उसे मूर्त नहीं कर पाता। परिणाम यह होता है कि क्रिया में अवरोध उत्पन्न हो जाता है और उसका जीवन विषाक्त बन जाता है।

इलियट के इस 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' मत की काफी चर्चा हुई। विरोध में तो लिखा ही गया, पक्ष में लिखने वालों ने भी इसे पर्याप्त उलझनों में डाल दिया। परन्तु उपर्युक्त बातों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इलियट का अभिप्राय भारतीय आचार्यों द्वारा निरूपित विभाव-विधान के औचित्य से ही है। 'विभाव' के अन्तर्गत उन सभी तत्त्वों का समावेश हो जाता है, जिनका उल्लेख इलियट ने उपर्युक्त उद्धरणों में किया है। यदि लेखक या कवि के शब्द अभीष्ट संवेदना को प्रतिफलित करने में उपयुक्त नहीं हैं, तो आग्रहमुक्त समीक्षक उसकी सृजन-शक्ति को निर्बल ही घोषित करेगा।

18.5 काव्य-भाषा

इलियट की मान्यता है कि कविता भाव-प्रधान होती है और गद्य विचार-प्रधान। हम विदेशी भाषा के गद्य को, उसकी कविता की अपेक्षा, अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। विदेशी भाषा में विचार व्यक्त करना सरल है, पर उसमें महसूस करना कठिन है। प्रत्येक जाति और राष्ट्र की अनुभूति-शक्ति की निजी विशेषता होती है, जो उसकी निजी भाषा में ही व्यक्त की जा सकती है। संवेदनापरक सभी प्रकारों और कोटियों के विषय में यही बात चरितार्थ होती है। इसलिए इलियट का कहना है कि "कविता उन सभी तत्त्वों को उजागर करती है, जो केवल एक भाषा में व्यक्त किए जा सकते हैं और जिनका अनुवाद नहीं हो सकता।" प्रत्येक जाति की भाषा का सम्बन्ध उसकी संस्कृति से होता है और अपनी संस्कृति के वैशिष्ट्य की रक्षा होनी चाहिए। इस प्रकार संस्कृति, संवेदना और भाषा, तीनों की एकसूत्रता इलियट ने स्वीकार की है। उनका मत है कि जिस क्षण किसी भाषा में अनुभूति के प्रकाशन की प्रक्रिया खत्म हो जायेगी, उस क्षण उसे बोलने वालों का भविष्य भयावह माना जायेगा।

कवि-कर्म भाषा के माध्यम से होता है, इसलिए कवि को प्रायः भाषा-संघर्ष करना पड़ता है। वह भाषा को अपने अनुकूल बनाता है और नवीन संवेदनों की अभिव्यंजना के लिए भाषा को नई शक्ति प्रदान करता है। संवेदन-शक्ति तो स्वयं परिवर्तित हो जाती है, पर अभिव्यंजना को बदलना पड़ता है। अतएव "कवि का कर्तव्य है कि वह अभिव्यक्ति के नवीन माध्यम गढ़ता चले और ऐसा वह न-केवल अपने युग के लिए, वरन् अपने में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन के लिए भी करे। भाषा का विकास करने और शब्दों को अर्थ-समृद्ध बनाने में, कवि, अन्यो के भाव और बोध की शक्तियों का विवर्धन कर देता है।..... भाषा का प्रत्येक सशक्त विकास अनुभूति का विकास है।" तात्पर्य यह है कि कवि भाषा को सशक्त बनाता है और उसके कारण अन्यो को भी अपनी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का रास्ता मिल जाता है। इसलिए इलियट के अनुसार, कवि का प्रत्यक्ष कर्म भाषा के प्रति होता है और अप्रत्यक्ष रूप से समाज के साथ। इसके लिए कवि को निरन्तर अभ्यास-प्रयोग करते रहना चाहिए। कविता की भाषा के विषय में उसका यह भी कहना है कि वास्तव में कविता की भाषा कवि की बोल-चाल या व्यवहार की हूबहू भाषा नहीं होती, पर उसे युगानुकूल भाषा के इतने निकट होना चाहिए कि पाठक कह सके कि यदि मैं कविता में बात करना जानता, तो इसी प्रकार करता। आधुनिक युग में अधिकांश कविता बोलने के लिए लिखी जाती है। इसलिए उसका सम्बन्ध बोलचाल की भाषा से होना

ही चाहिए। परन्तु जीवन के समान साहित्य में भी निरन्तर विद्रोह की स्थिति ठीक नहीं होती। कविता का यही उद्देश्य नहीं है कि वह अपने युग की भाषा का संस्कार करे, वरन् यह भी कि वह उसे द्रुतगति से परिवर्तित होने में सहायता भी करे। क्योंकि भाषा में द्रुतगति से होने वाला परिवर्तन एक प्रकार से उसका ह्रास भी हो सकता है। यदि कविता (या सृजन) को विकास-पथ पर चलना है, तो उसके भाषा-प्रयोग का एक आदर्श निश्चित होना चाहिए। उसे यह समझना आवश्यक है कि काव्य-संगीत उस कविता में अधिक होता है, जो उपयुक्ततम शब्दों में निश्चित अर्थ व्यक्त करती है।

शिल्प को भावानुगामी होने के लिए, भाव-बोध के साथ प्रभावों की मानसिक स्थिति और उनकी परिपक्वता का अनुकरण करना होता है। इसके लिए पहले के कवियों का अनुकरण भी भाव और शिल्प के स्तरों पर हो सकता है, लेकिन वर्तमान कवि को सदैव अपनी चेतना के संघटन पर ध्यान देना होता है। इसलिए इलियट पूर्ववर्ती कवियों के अनुकरण के सम्बन्ध में आधुनिक कवि की उत्तमता के स्तरों के सम्बन्ध में कहता है कि "किसी कवि की सर्वाधिक विश्वसनीय परीक्षा उसके उधार-ग्रहण का ढंग ही है। अपरिपक्व कवि नकल करते हैं, परिपक्व कवि चोरी करते हैं, निकृष्ट कवि उधार को भी कुरूप बना देते हैं और श्रेष्ठ कवि इसमें भी सुधार लाते हैं या कम-से-कम इसे किसी अन्य ढंग से प्रस्तुत करते हैं। श्रेष्ठ कवि अपनी चोरी को भावगत सार्वभौमता का रूप देता है, जो कि अद्वितीय होता है और यह अपने मूल रूप से नितान्त भिन्न प्रकार का हो जाता है।"

इलियट के अनुसार, शिल्प-पक्ष में बिम्ब-विधान का बहुत-अधिक महत्त्व है। यह बिम्ब-विधान उसी मूल बौद्धिक सक्रियता की अपेक्षा रखता है, जिसकी आवश्यकता किसी भी मत या विवाद को क्रम प्रदान करने के लिए रहती है। इस रूप में बिम्बों और विचार शृंखला के चुनाव में कोई विसंगति नहीं होती। कल्पना में भी अभिमतगत संगति रहती है। जो लोग कविता नहीं समझते, वे ही बिम्ब-विधान को लेकर क्रम और दयति क्रम को समझने में असमर्थ रहते हैं।

18.6 काव्य प्रयोजन

इलियट ने काव्य के तीन स्वर माने हैं—प्रथम स्वर वह है, जिसमें कवि अन्य किसी से नहीं, वरन् स्वयं से बात करता है। द्वितीय स्वर है, जिससे वह अन्यो (श्रोताओं) से बात करता है, और तृतीय स्वर में कवि स्वयं वक्ता न होकर पात्रों के माध्यम से बोलता है। प्रथम प्रकार के स्वर में कवि का लक्ष्य समर्पण, अर्थात् दूसरों तक अपने भाव पहुँचाना नहीं होता। वह तो एक प्रकार के भार से व्यथित रहता है और अपनी बात कह उससे छुटकारा पाता है। दूसरे स्वर में कविता किसी सजग सामाजिक उद्देश्य के लिए लिखी जाती है। मनोरंजन या उपदेश के लिए लिखा गया साहित्य और व्यंग्य-काव्य इसी कोटि में आता है। महाकाव्य में भी वही स्वर प्रधान होता है। ऐसी कविताओं में कुछ अंश तक 'रूप' पूर्व-निर्धारित होता है। तीसरे स्वर के अन्तर्गत नाटक आते हैं। स्पष्ट है कि दूसरे और तीसरे स्वरों की कृतियों को इलियट कवि की अचेतावस्था से उद्भूत नहीं मानते, क्योंकि इनमें वह पूर्ण सजग होकर अपने व्यक्तित्व से कृति का निर्माण करता है।

वस्तुतः, किसी भी कविता में केवल एक स्वर मिलना कठिन है। इलियट के शब्दों में, "यदि कवि ने निज से कभी कुछ नहीं कहा, तो उसकी कृति कविता नहीं होगी—शानदार वक्तृत्व भले ही हो। किन्तु यदि कवि ने नितान्त

अपने लिए कविता लिखी है, तो वह एक व्यक्तिगत और अपरिचित भाषा में होगी। जो कविता केवल कवि के लिए होगी, वह कविता नहीं हो सकती।”

इस प्रकार समालोचक—इलियट सबसे पहले हमें यह बताता है कि वह हमारे काल का एक सचेत कवि है, जिसने कविता के स्वरूप और कार्य पर विचार किया है। उसकी कविता एक ऐसे कवि की कविता नहीं है जो कविता को तुरन्त की अनुभूति समझता हो, बल्कि वह तो उसकी सम्पूर्ण शक्ति के विनियोग से अंकुरित हुई है। इसलिए इलियट प्रकृत्या नैतिकता और मानव—इतिहास का कवि है, न कि भौतिक प्रकृति, सौन्दर्य अथवा केवल आत्मपरक जीवन का कवि।

‘यूज़ ऑफ पोइट्री एण्ड द यूज़ ऑफ क्रिटिसिज़्म में इलियट काव्यार्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि “सामान्यतः काव्यार्थ की मुख्य उपयोगिता पाठक को किसी आदत की संतुष्टि में अथवा उसके मस्तिष्क को स्व से परे और शान्त रखने में है।”

18.7 कविता और नैतिकता :

कविता और नैतिकता को लेकर पाश्चात्य साहित्य—जगत् के महानतम विचारकों ने अपने युग की नैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में गम्भीर विवेचन किया है। यद्यपि आरम्भ में इलियट ने काव्य की स्वतंत्र सत्ता स्थापित की थी, किन्तु कालान्तर में उसके विचारों में पर्याप्त परिवर्तन हुआ और उसकी परिशोधित मान्यताएं सामने आईं। एक ऐसी स्थिति भी आई, जब इलियट ने यह कहा कि “नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से साहित्यालोचन में पूर्णता ले आनी चाहिए। साहित्य की महानता केवल साहित्यिक प्रतिमानों द्वारा निर्धारित नहीं की जा सकती, लेकिन यह साहित्य है कि नहीं, इसकी जाँच साहित्यिक प्रतिमानों द्वारा ही हो सकती है।” इस विवेचन से इतनी बात स्पष्ट है कि पहले तो साहित्य विशुद्ध रूप से साहित्य होना चाहिए और जब यह निश्चित हो जाए कि अमुक कृति साहित्य की श्रेणी में आ सकती है, तो उसका मूल्यांकन साहित्येतर प्रतिमानों द्वारा किया जाना चाहिए। ये साहित्येतर प्रतिमान क्या हैं? इस सम्बन्ध में स्वयं इलियट यह कहते हैं कि जब एक बार यह निश्चित हो जाए कि अमुक कृति साहित्य है तो “यह निश्चित करना भी आवश्यक है कि उसका नैतिक मूल्य क्या है।” इलियट के काव्य सम्बन्धी चिन्तन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि आरम्भ में उन्होंने साहित्य को उसका नितान्त स्वतंत्र पद प्रदान किया था, किन्तु कालान्तर में उसकी मान्यताएं निरन्तर बदलती रही हैं। कदाचित् इसी कारण उनके परवर्ती चिन्तन को देखकर विकलर और टेट, दोनों ने इलियट पर नैतिकता के प्रबल समर्थक होने का आरोप लगाया था। इसी सम्बन्ध में उनके ‘साहित्य और धर्म’ नामक लेख ने इस तथ्य की और अधिक पुष्टि कर दी कि काव्यपरक क्रमबद्धता का महान् समर्थक इलियट नैतिक और धार्मिक प्रतिमानों का पुजारी बन गया है।

इलियट ने धर्म और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुए यह कहा है कि साहित्य में धर्म और नीति का समावेश तो होना चाहिए, किन्तु यह स्वतःस्फूर्त होना चाहिए। काव्य के माध्यम से नीति के उपदेश और धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या करना साहित्य के मूल स्वर का गला घोटने जैसा है। इलियट अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहता है कि “यह आवश्यक नहीं कि कवि अपनी कृति में नीति या धर्म का उपदेश दे, वैसा करना तो असाहित्यिक होगा। आवश्यक यह है कि उसकी धार्मिक प्रबुद्धता कृति में स्वतः स्फुरित रहे। जो साहित्य हमें जीने की कला सिखाए, वह

महान् होगा, पर यह ज्ञान सजग प्रयत्न द्वारा न होकर अप्रत्यक्ष रीति से किया जाना चाहिए और आनन्द उसका लक्ष्य होना चाहिए।" अपनी इसी मान्यता के आधार पर इलियट तीन प्रकार के काव्यों की चर्चा करता है। इलियट के इस काव्य-वर्गीकरण से यह भी पता चलता है कि धर्म और साहित्य के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध होता है और इस सम्बन्ध का आदर्श रूप क्या होना चाहिए। इलियट के मतानुसार, एक तो विशुद्ध रूप से धार्मिक साहित्य होता है, जिसमें काव्योचित सौंदर्य होता भी है और नहीं भी। मूल बात यह है कि इस प्रकार के साहित्य का अध्ययन काव्यानन्द प्राप्त करने के लिए नहीं, अपितु धार्मिक जगत का अलौकिक सुख अनुभव करने के लिए किया जाता है। हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास का 'मानस' ऐसा ही महाकाव्य है, जो धार्मिक दृष्टि से हिन्दुओं का सर्वाधिक आदरपूर्ण ग्रन्थ होने के साथ-साथ काव्यानन्द की भी अक्षय निधि है। उसमें केवल हिन्दुओं की भक्ति-पद्धति, धार्मिक विश्वासों एवं आस्थाओं की ही प्रतिष्ठा नहीं की गई है, अपितु काव्यगत सौन्दर्य की दृष्टि से भी वह हिन्दी का ही नहीं, समूचे भारतवर्ष का एक कीर्तिस्तम्भ है। दूसरे प्रकार का साहित्य किमूलक साहित्य होता है, जिसमें जीवन की समग्रता सिमट कर नहीं आती। तीसरे प्रकार के साहित्य में ऐसी साहित्यिक कृतियाँ आती हैं, जिनमें काव्य के माध्यम से धर्म का प्रचार किया जाता है। इस प्रकार की कृतियों की रचना धर्म के अधिकाधिक प्रचार-प्रसार के निश्चित-उद्देश्य को लेकर की जाती है। निस्सन्देह, इस प्रकार का साहित्य प्रचार-साहित्य कहा जाएगा और, इस कारण, इस प्रकार के साहित्य को उच्च कोटि का काव्य नहीं कहा जा सकता।

18.8 सारांश :

इलियट के मतानुसार, वही काव्य अथवा साहित्य श्रेष्ठ होगा, जिसमें धार्मिक प्रबुद्धता स्वतः स्फुरित रूप में आ जाए। विशेष रूप से प्रयत्न करके और निश्चित उद्देश्य लेकर धार्मिक प्रबुद्धता की अवधारणा सत्साहित्य का अंग नहीं बन सकती।

18.9 कठिन शब्द :

- | | |
|----------------|-----------------|
| 1. अंतर्दृष्टि | 2. निर्वैयक्तिक |
| 3. संधान | 4. अतिक्रमण |
| 5. उद्घोष | 6. परिहार |
| 7. अवलम्बित | 8. निष्क्रिय |
| 9. समीकरण | 10. प्रबुद्धता |

18.10 अभ्यासार्थ प्रश्न :

प्र1. टी. एस. इलियट के समीक्षा सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

प्र2. इलियट के निर्वैयक्तिकता सिद्धांत का विवेचन कीजिए ।

प्र3. इलियट की परम्परा संबंधी अवधारणा पर प्रकाश डालिए ।

प्र4. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :

क. काव्य भाषा

ख. काव्य प्रयोजन

ग. कविता और नैतिकता

18.11 संदर्भ ग्रंथ/पुस्तकें :

1. प्रो. निर्मला जैन, कुसुम बाँठिया – पाश्चात्य साहित्य-चिंतन ।
2. प्रो. देवेन्द्रनाथ शर्मा – पाश्चात्य काव्य-शास्त्र ।
3. डॉ. राम अवध द्विवेदी – साहित्य सिद्धांत ।

आई. ए. रिचर्ड्स-सम्प्रेषण का सिद्धान्त

- 19.0 रूपरेखा
- 19.1 उद्देश्य
- 19.2 प्रस्तावना
- 19.3 आई. ए. रिचर्ड्स : समीक्षा-सिद्धान्त
- 19.4 सम्प्रेषण का सिद्धान्त
- 19.5 कविता और विज्ञान
- 19.6 संवेगों का संतुलन
 - 19.6.1 काव्य-मूल्य मनोवेगों का सामरस्य
- 19.7 कविता और नैतिकता
- 19.8 सारांश
- 19.9 कठिन शब्द
- 19.10 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 19.11 सन्दर्भग्रन्थ/पुस्तकें

19.1 उद्देश्य :

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- आई. ए. रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धान्त से अवगत हो सकेंगे ।
- सम्प्रेषण के सिद्धान्त की जानकारी प्राप्त करेंगे ।
- आई. ए. रिचर्ड्स के आलोचक व्यक्तित्व को जान सकेंगे ।

19.2 प्रस्तावना :

आधुनिक युग के मौलिक चिन्तकों और सिद्धांतकारों में आई. ए. रिचर्ड्स का महत्वपूर्ण स्थान है। 'नयी समीक्षा' को सैद्धांतिक आधार प्रदान करने वाले आलोचकों में वे अग्रणी माने जाते हैं। उन्होंने साहित्यिक चिंतन को नवीन आधार प्रदान करते हुए विज्ञान तथा मनोविज्ञान की सहायता से कविता की सार्थकता एवं महत्ता की महत्व-प्रतिष्ठा की है।

19.3 आई. ए. रिचर्ड्स : समीक्षा-सिद्धान्त

नयी समीक्षा के प्रसिद्ध सिद्धांतकार **ईवर आर्मस्ट्रांग रिचर्ड्स** (26 फरवरी, 1893 से 7 सितम्बर, 1979 तक), कॉलरिज के बाद, एक ऐसे समीक्षक हैं, जिन्होंने आलोचनाशास्त्र को व्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया। रिचर्ड्स का रचना-काल पूरी आधी शताब्दी तक फैला है। सी. के. ऑग्डन और जेम्स वुड के साथ सहयोगी-लेखन के रूप में उनकी पहली कृति 'द फाउंडेशंस ऑफ एस्थेटिक्स' 1922 ई० में प्रकाशित हुई और मृत्यु से पांच वर्ष-पूर्व उनकी अन्तिम रचना 'बियॉर्ड' 1974 में। बीच के अंतराल में उन्होंने एक काव्य-संग्रह के अलावा लगभग 12 ग्रंथ-और लिखे। यह बात अलग है कि उनकी ख्याति का आधार मुख्य रूप से तीसरे दशक में रचित कृतियाँ ही रहीं। इनमें भी अधिक महत्त्व और प्रसिद्धि उन्हें 'प्रिंसिपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' से मिली। बाद की रचनाओं में 'कॉलरिज ऑन इमेजिनेशन' (1934) विद्वानों के बीच चर्चा के केन्द्र में रही।

इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि उन्हें अपने प्रारंभिक लेखन से जो यश और प्रतिष्ठा मिली थी, पिछले दौर के लेखन की असंगतियों से उसकी क्षति ही हुई। इसके बावजूद, नयी समीक्षा में कविता के विश्लेषण की जो पद्धति विकसित हुई, उसके लिए सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत करने का श्रेय रिचर्ड्स को ही दिया जाता है।

रिचर्ड्स का युग विज्ञान और भौतिकवादी जीवन-दृष्टि के चरम प्रकर्ष का समय था। ऐसे वातावरण में कविता की उपयोगिता और सार्थकता के विषय में उनकी चिंता स्वाभाविक थी। बहुत-सी बातों के अतिरिक्त रिचर्ड्स ने दो समस्याओं पर मुख्य रूप से विचार किया। इनमें से एक थी- काव्य के मनोवैज्ञानिक प्रभाव की मूल्यपरकता और दूसरी, काव्य-भाषा की प्रकृति की पहचान।

आई. ए. रिचर्ड्स ने कविता की सार्थकता पर विचार करते हुए टॉमस लव पीकॉक के वैज्ञानिक और दार्शनिक पद्धति द्वारा यथार्थ के तर्कपूर्ण और क्रमबद्ध विवेचन को प्रमुखता देते हुए सवाल उठाया था कि 'क्या कवि इस सभ्य समाज में अर्ध-बर्बर नहीं प्रतीत होता?' उन्हें कवि बीते हुए जमाने का प्राणी नज़र आया। काव्य की उपयोगिता उन्हें नागरिक समाज की आदिम अवस्था में ही दिखायी पड़ी। जो लोग अच्छे काम कर सकते हैं, उन्हें 'लक्ष्यहीन बौद्धिक व्यायाम' करते देखकर उन्होंने खेद प्रकट किया। रिचर्ड्स ने विचार करते हुए, पीकॉक के मत को उद्धृत करके, उसके विरोध में तर्क देने की आवश्यकता समझी। इससे यही सिद्ध होता है कि विज्ञान के समकक्ष काव्य की उपयोगिता की पड़ताल करना रिचर्ड्स को आवश्यक लगा।

रिचर्ड्स की विशिष्टता इस बात में थी कि उन्होंने काव्य की मूल्यवत्ता और उपयोगिता का केवल गुणानुवाद नहीं किया और न ही उसके पक्ष में भावोद्गारों की अभिव्यक्ति की। उन्होंने वैज्ञानिक आधार पर, वैज्ञानिक पद्धति से, उसकी

व्याख्या करने का प्रयास किया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि के प्रति रिचर्ड्स के आग्रह का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने अपने ग्रंथ 'प्रिंसिपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' में पांच अध्याय (11 से 14) मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के विश्लेषण को समर्पित किये हैं।

19.4 सम्प्रेषण का सिद्धान्त

रिचर्ड्स का काव्य-सम्बन्धी महत्वपूर्ण सिद्धान्त है- 'प्रेषणीयता का सिद्धान्त' (Theory of Communication)। रिचर्ड्स की मुख्य चिंता थी- कविता के सम्प्रेषण की परीक्षा। कविता और पाठक के सम्बन्ध पर विचार करते हुए उन्होंने पाठक पर कविता के संभावित प्रभाव की व्याख्या और उसका विश्लेषण किया। प्रभाव-विश्लेषण के आधार पर उन्होंने कविता का मूल्य-निर्णय भी किया। रिचर्ड्स के अनुसार, किसी भी काव्य की समीक्षा के लिए मूल्य के वैज्ञानिक आधार एवं प्रेषणीयता, दोनों को आधार बनाना चाहिए। 'प्रेषणीयता' शब्द का प्रचार समीक्षा के क्षेत्र में रिचर्ड्स से बहुत पहले हो चुका था, किन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं था। इसके सम्बन्ध में अनेक रहस्यात्मक बातें प्रचलित थीं। कुछ लोग ऐसा समझते थे कि प्रेषणीयता में कवि की अनुभूति पाठक के हृदय में इस प्रकार संक्रमित की जाती है, जैसे एक सिक्का एक जेब से दूसरी जेब में चला जाता है। रिचर्ड्स ने इन धारणाओं का विरोध करते हुए स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया कि प्रेषणीयता कोई अद्भुत या रहस्यमय व्यापार नहीं है, अपितु मन की एक सामान्य क्रिया-मात्र है। उनके शब्दों में- "All that occurs is that, under certain conditions, separate minds have closely similar experiences." अर्थात्, "प्रेषणीयता में जो कुछ होता है, वह यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्रायः एक-जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं।" यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि रिचर्ड्स ने इन विभिन्न अनुभूतियों में आधार की ही एकता मानी है, उन अनुभूतियों का पारस्परिक ऐक्य उसने स्वीकार नहीं किया है। इसका और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि "जब किसी वातावरण-विशेष से एक व्यक्ति का मस्तिष्क प्रभावित होता है तथा दूसरा उस व्यक्ति की क्रिया के प्रभाव से ऐसी अनुभूति प्राप्त करता है कि जो पहले व्यक्ति की अनुभूति के समान होती है तो उसे प्रेषणीयता कहते हैं।" "वस्तुतः किसी अन्य की अनुभूति को अनुभूत करना ही प्रेषणीयता है।"

प्रेषणीयता के आधारभूत तथ्यों की मीमांसा करते हुए रिचर्ड्स महोदय ने इसका श्रेय मुख्यतः कवि की वर्णन-क्षमता एवं श्रोता या पाठक की ग्रहण-शक्ति को दिया है। किन्तु इन दोनों के अतिरिक्त और-भी बहुत-से कारण हैं। "सामान्यतः (विषय का) दीर्घ एवं घनिष्ठ परिचय, व्यापक जानकारी, जीवन की परिस्थितियों एवं अनुभूतियों की समानता आदि के कारण भी प्रेषणीयता सम्भव है। कुछ विशिष्ट एवं जटिल विषयों में सफल प्रेषणीयता पर इस बात का भी गहरा प्रभाव पड़ता है कि उसे कौन से दूसरे विषयों एवं तत्त्वों के साथ समन्वित करके प्रस्तुत किया गया है।" इस प्रकार रिचर्ड्स के विचार से, विचारात्मक एवं विश्लेषणात्मक निबन्धों में भावोद्दीप्ति का समन्वय नहीं होना चाहिए, अन्यथा वे अस्पष्ट हो जायेंगे।

कला के लिए प्रेषणीयता अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु क्या इसके लिए कलाकार को विशेष प्रयत्न करना चाहिए? यदि कलाकार स्वयं अपनी कला को प्रेषणीय बनाने का प्रयत्न करने लगेगा तो इससे सम्भव है कि उसकी रचना में कृत्रिमता आ जाए; क्योंकि कला में स्वाभाविकता का गुण तभी सम्भव है, जब कलाकार उसमें किसी प्रकार का

बाह्य प्रयत्न न करे। अतः रिचर्ड्स महोदय ने यह माना है कि कला में प्रेषणीयता आवश्यक है, किन्तु कलाकार को इसके लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना चाहिए। सही बात तो यह है कि यदि कलाकार तल्लीनतापूर्वक कला की रचना करता है, तो उसमें प्रेषणीयता स्वतः आ जायेगी। “कलाकार जितना अधिक सामान्य रूप से कार्य करेगा, अपनी अनुभूतियों के ठीक प्रकार से प्रस्तुतिकरण में वह उतना ही अधिक सफल होगा तथा उतने ही अधिक तदनुकूल भाव पाठकों के मन में उत्पन्न होंगे।” सम्प्रेषण-प्रक्रिया की सफलता के लिए रिचर्ड्स कलाकार में कुछ गुणों की उपस्थिति अभीष्ट मानता है, जो निम्न प्रकार के हैं :

1. अनुभव की व्यापकता,
2. पूर्ण एवं स्पष्ट बोध की आवश्यकता,
3. जागरूक निरीक्षण-शक्ति,
4. कलाकार तथा पाठकों के आवेगों और विभावों में तादात्म्य की स्थापना।

रिचर्ड्स की मान्यता है कि सम्प्रेषणीयता की प्रक्रिया सच्ची कलात्मक प्रक्रिया है, जिसमें भाषा का विशिष्ट प्रयोग अभीष्ट है, क्योंकि भाषा ऐसे प्रतीकों का समूह है, जो पाठकों के मन में कलाकार की मानसिक अवस्था के अनुरूप अवस्था उत्पन्न कर देती है। भाषा दैनिक जीवन में सामान्य तथ्यों को व्यक्त करती है, किन्तु साहित्य में विशिष्ट प्रयोग से विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। ऑग्डन के सहलेखन में रिचर्ड्स ने ‘मीनिंग ऑफ मीनिंग’ कृति में भाषा का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है, जिसके आधार पर इस कृति को आधुनिक भाषाशास्त्र का जनक कहा जाता है। इसमें तथा रिचर्ड्स की मुख्य कृति ‘प्रिंसिपिल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म’ में प्रयोग की दृष्टि से भाषा को दो वर्गों में रखा गया है : तथ्यात्मक प्रयोग (use for the sake of reference) और रागात्मक प्रयोग (Emotive use)। वैज्ञानिकों तथा तार्किक दार्शनिकों की भाषा तथ्यात्मक प्रयोग से युक्त होती है, जबकि काव्य की भाषा रागात्मक प्रयोग से युक्त होती है।

भाषा में संकेतात्मक शक्ति होती है, जो कलाकार और पाठक के मध्य अखण्ड मानसिक सम्बन्ध की स्थापना करती है। भाषा की यह शक्ति इसके प्रतीकों (symbols) में निहित होती है। ‘प्रतीक’ ऐसे शब्द होते हैं, जिनमें वस्तु-संकेत के साथ-साथ लेखक का भाव-संकेत भी निहित रहता है। प्रयोग की दृष्टि से इन प्रतीक-संकेतों के अनेक स्तर होते हैं। कुछ प्रतीक-संकेत केवल झंकार उत्पन्न कर पाते हैं, तो कुछ वस्तु, भाव आदि को एक ही साथ ध्वनित कर सकते हैं। कलाकार जब इन सब विशेषताओं को वहन करने की सामर्थ्य वाले उचित शब्दों के प्रयोग एवं उनके साहचर्य-विधान पर विशेष ध्यान देता है, तब उसकी कला में सार्थकता आती है।

भाषा का उपयोग मुख्यतः अर्थ को सूचित करने के लिए होता है। रिचर्ड्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ‘Practical criticism’ में अर्थ के चार भेद किये हैं— (1) वाच्यार्थ (sense), (2) भाव (feeling), (3) वक्ता की वाणीगत चेष्टा (toe) और (4) अभिप्राय (Intention)। इन चारों की क्रमशः, रिचर्ड्स के दृष्टिकोण से, व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि सेन्स अर्थात् वाच्यार्थ में किसी वस्तु-विशेष या किसी विधेय को शब्दों के द्वारा सूचित किया जाता है। हम किसी वस्तु की सूचना इसलिए देते हैं कि उसका हमारे किसी-न-किसी भाव से सम्बन्ध होता है। केवल गणित

जैसे कुछ विषयों को अपवाद—स्वरूप छोड़कर यह कहा जा सकता है कि भाषा का प्रयोग ही भावों की प्रेरणा से होता है। टोन या लहजा के द्वारा हम श्रोता के प्रति दृष्टिकोण व्यक्त करते हैं। किसी से सम्मानपूर्वक बात करते समय हमारा लहजा विनम्रतापूर्ण होगा, तो किसी को डाँटते समय वह दूसरे रूप में होगा। रिचर्ड्स के शब्दों में, “**The tone of his utterance reflects his awareness of this relation**” अर्थात्, उद्गारों का लहजा (वक्ता और श्रोता के पारस्परिक) सम्बन्ध का सूचक है। इन तीनों के अतिरिक्त चौथा भेद अभिप्राय (Intention) है। सामान्यतः कोई भी व्यक्ति किसी प्रयोजन से कुछ कहता है, अतः इसका भी भाषा से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है।

भाषा से सामान्यतः उपर्युक्त चारों प्रकार के अर्थ ही सूचित होते हैं, किन्तु विषय एवं परिस्थिति—भेद से इनका अनुपात बदलता रहता है। विज्ञान की पुस्तकों एवं चर्चा में यदि पहले रूप—वाच्यार्थ (Sense) का अधिक प्रयोग होता है, तो काव्य में दूसरे रूप या भाव की अतिशयता होती है। फिर भी ये अर्थ परस्पर सर्वथा—असम्बद्ध नहीं हैं, वे एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। “काव्य में भाव (या भावार्थ) की इतनी अधिक महत्ता होती है कि वहाँ वाच्यार्थ या सूच्य तथ्य गौण हो जाता है। वहाँ तथ्य साधन होते हैं, साध्य नहीं। अतः जो लोग केवल तथ्यों अथवा विचारों के आधार पर ही कविता का मूल्यांकन करते हैं, वे काव्य के साथ न्याय नहीं करते।”

19.5 कविता और विज्ञान

विज्ञान एवं ललित कलाओं के पारस्परिक सम्बन्धों और भेदों पर काव्यशास्त्र के आरम्भिक काल से आज तक अनेक विद्वानों और आलोचकों ने प्रकाश डाला है। रिचर्ड्स ने भी अपनी पुस्तकों ‘Principles of Literary Criticism’ में इस प्रश्न पर विचार किया है। उनका मत है कि प्रत्येक वक्तव्य में वस्तु का निर्देश किया जाता है। जब वस्तुएँ सच्ची होती हैं और उनके बीच निर्दिष्ट सम्बन्ध भी सच्चे होते हैं, तो उस वक्तव्य को ‘वैज्ञानिक कथन’ कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम किसी कथन में यह निर्देश करते हैं कि ताप से वायु हल्की होकर ऊपर की ओर उठती है, तो हम यहाँ दो सच्ची वस्तुओं और उनके परस्पर सच्चे सम्बन्ध की ओर इंगित करते हैं। अतः यह कथन वैज्ञानिक माना जाएगा। इसके विपरीत किसी कथन में निर्दिष्ट वस्तुओं का सच्चा और झूठा होना महत्त्वपूर्ण न हो और न उन निर्दिष्ट वस्तुओं के बीच निर्दिष्ट सम्बन्ध ही महत्त्वपूर्ण हो, अपितु वह कथन हमारे भावों (Feelings) और अन्तर्वेगों (Emotions) को जाग्रत करे, तो ऐसे कथन को साहित्यिक कहा जायेगा।

रिचर्ड्स के अनुसार, मानव के मानसिक अनुभवों के दो स्रोत हैं—बाह्य जगत् और शारीरिक अवस्था। विज्ञान का सम्बन्ध बाह्य जगत् से है और साहित्य का शारीरिक अवस्था से। विज्ञान में निर्देशों का वास्तविक आधार होता है। साहित्य के लिए प्रथम तो यह आवश्यक नहीं कि उसके निर्देशों का आधार वास्तविक हो; यदि उनका आधार वास्तविक भी हो, तो भी उनका मूल्य वास्तविकता से नहीं, भावों और अन्तर्वेगों को जाग्रत करने की क्षमता से आंका जायेगा। कला के निर्देश बहुधा अवास्तविक होते हैं। पर चाहे वे वास्तविक हों या अवास्तविक, उनका आन्तरिक सम्बन्ध अन्तर्वेगीय होता है। कलाकार का तर्क भी अन्तर्वेगीय होता है। अन्तर्वेग मन की एक भावात्मक वृत्ति है। भाव कल्पना को जाग्रत करता है। अतः जैसे किसी वैज्ञानिक कृति को समझने के लिए न्यायात्मक बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार साहित्यिक कृति को समझने के लिए कल्पनात्मक बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। जिस भाव

से आन्दोलित हो कवि ने किसी विशिष्ट स्थिति का चित्र अंकित किया है, उसे समझने के लिए हमें कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है।

रिचर्ड्स का भाषायी अध्ययन भी उनके साहित्य और विज्ञान के अन्तर पर प्रकाश डालता है। रिचर्ड्स की भाषा सम्बंधी मान्यता का निष्कर्ष था कि विज्ञान में भाषा का तथ्यपरक उपयोग होता है और कविता में भावपरक। विज्ञान में ऐसे वक्तव्य होते हैं, जिनका सत्यापन किया जा सकता है। कविता में छद्म वक्तव्य होते हैं, जो न सत्य होते हैं, न असत्य। इन वक्तव्यों का मूल्य इनकी सत्यता में नहीं, बल्कि भावोद्रेक-क्षमता और भावों के परितोष में होता है। इस मान्यता के अनुसार, कविता में विचारों का स्थान गौण हो जाता है और कवि के जीवन-दर्शन अथवा उसकी आस्था के साथ सहमत या असहमत होने का प्रश्न प्रासंगिक।

रिचर्ड्स के इस सिद्धांत का व्यापक रूप से खंडन किया गया। इसीलिए आगे चलकर उन्होंने 'द फिलॉसफी ऑफ रेटरिक' में अपनी मान्यता में संशोधन किया और कविता की भाषा में भावात्मकता के साथ विचारात्मकता को भी स्थान दिया। यहाँ तक कि वे कविता की ग्राह्यता के लिए संवेगों पर विवेक के नियंत्रण को अनिवार्य मानने लगे।

रिचर्ड्स के शिष्य विलियम एंपसन ने उनके विचारों में आने वाले परिवर्तन को रेखांकित करते हुए यह भी संकेत किया है कि रिचर्ड्स ने आगे चलकर अर्थ सम्बंधी संदर्भ-सिद्धांत (Context Theory of meaning) विकसित किया, जिससे कविता की भाषा में लाक्षणिकता और अनेकार्थता (metaphor and ambiguity) को समुचित महत्त्व प्राप्त हुआ। वे पहले कविता और विज्ञान की भाषा के शब्द-समूह में अंतर करके चलते थे। बाद में वे एक ही शब्द के सन्दर्भ-भेद से वैज्ञानिक और कलात्मक, दोनों प्रकार के अर्थों की संभावना को स्वीकार करने लगे। संक्षेप में, 'रिचर्ड्स को इस बात का श्रेय देना ही होगा कि उन्होंने विज्ञान के युग में साहित्यालोचन को वैज्ञानिक निश्चितता और वस्तुनिष्ठता (Scientific accuracy and objectivity) प्रदान करने की दिशा में पहल की। साथ ही पाठक पर पड़ने वाले प्रभाव और प्रतिक्रिया को कमोबेश नापने का एक पैमाना प्रस्तावित करने की कोशिश भी की।

19.6 संवेगों का संतुलन

19.6.1 काव्य-मूल्य मनोवेगों का सामरस्य

रिचर्ड्स ने संवेगों की व्यवस्था या समन्वय की जो बात की है, वह सहृदय-सापेक्ष है। विषयीगत प्रतिमान की सीमाओं के प्रति वह सजग है। इसलिए उसने भाषा का विस्तृत विश्लेषण किया है तथा काव्यभाषा की समीक्षा में वस्तुगत गुणों के अन्तर्गत प्रतीक, बिंब, लय आदि का विवेचन किया है, जिसको पेटर के शैलीगत विवेचन की प्रवृत्ति के साथ जोड़ा जा सकता है। पेटर के समान रिचर्ड्स काव्यभाषा को मात्र-केन्द्र नहीं बनाता। उसने कल्पना के कार्यों पर भी वैज्ञानिक रीति से विचार किया है और उसे, कॉलरिज के समान, दर्शन के आधार पर प्रतिष्ठित न करके व्यावहारिकता के स्तर पर रखकर देखा है।

रिचर्ड्स ने अपने काव्यमूल्य के सिद्धांत के द्वारा उन्नीसवीं शती के आरंभ में व्यक्त किए गए टॉमस लव पीकॉक के इस मत का खंडन किया है कि बढ़ती हुई बौद्धिकता के युग में कविता के लिए कोई स्थान नहीं रहा। शैले ने 'दि डिफेंस ऑफ पोएट्री' में इस मत का खंडन किया था और आर्नल्ड ने कविता की सांस्कृतिक उपयोगिता के आधार पर

कविता के व्यापक महत्त्व को स्थापित किया था, लेकिन रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान के सहारे काव्य के स्वरूप एवं कार्य की व्याख्या करते हुए उसे वैज्ञानिक धरातल पर उपयोगी सिद्ध करने का प्रयास किया।

रिचर्ड्स ने मानव के संपूर्ण मनोवेगों को दो प्रमुख वर्गों में रखा— एक, आसक्तिमूलक मनोवेग (एप्रेटेंसीज) और दूसरे विरक्तिमूलक मनोवेग (एवर्शस)। प्रत्येक व्यक्ति में दोनों प्रकार के मनोवेग होते हैं तथा जीवन के अनुभवों में, वस्तुतः, इन्हीं मनोवेगों का संचरण होता है। सरल अनुभवों में कम वृत्तियों का योग रहता है तथा जटिल अनुभवों में अधिक वृत्तियाँ सक्रिय होती हैं। सामान्य जीवन में प्रायः अनुभव सरल होते हैं तथा ये वृत्तियाँ सक्रिय होती हैं। असामान्य जीवन में प्रायः अनुभव जटिल होते हैं तथा ये वृत्तियाँ 'अव्यवस्थित' और 'अस्तव्यस्त' रहती हैं। मगर कवि के अनुभव में इन वृत्तियों की व्यवस्था होती है तथा कविता से उत्पन्न सहृदय का अनुभव भी इन वृत्तियों की व्यवस्थित अवस्था का नाम है। कविता से उत्पन्न मनोवेगों की इस व्यवस्था के लिए रिचर्ड्स ने पहले तो 'सिनिस्थीसिस' शब्द का प्रयोग किया, बाद में 'सिंथीसिस' का भी प्रयोग किया है। 'विरोधी मनोवेगों का संतुलन या समन्विति' यही काव्य का चरम मूल्य तथा काव्य के महत्त्व का आधार है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी सभी भावों का वर्गीकरण करते हुए उन्हें दो वर्गों में रखा है— दुःखमूलक भाव और सुखमूलक भाव। दोनों प्रकार के भाव काव्य का विषय बनते हैं तथा अपनी-अपनी विशेषताओं के अनुरूप सहृदय को प्रभावित करते हैं। जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने कविता के प्रभाव से भावों के व्यायाम और परिष्कार की बात की है, उसी प्रकार रिचर्ड्स भी यह मानता है कि काव्य के अध्ययन से सहृदय के राग-तत्त्व का परिमार्जन होता है।

मनोवेगों का संतुलन या सामरस्य तो जीवन में भी सिद्ध होता है, मगर काव्य के द्वारा जो सामरस्य पैदा होता है, वह अधिक जटिल एवं मूल्यवान होता है। इसकी एक विशेषता यह भी होती है कि इसमें यद्यपि विरोधी मनोवेगों में संतुलन की अवस्था पैदा होती है, मगर यह अवस्था ऐसी होती है जो कम-से-कम मनोवेगों को अवरुद्ध या कूटित करती है। संतुलन की इस स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए रिचर्ड्स इस अवस्था को अनिर्णय की स्थिति से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित करता है। अनिर्णय की स्थिति में दो विरोधी मनोवेग या विरोधी मनोवेगों के वर्ग सक्रिय रहते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति कोई भी पथ निर्धारित नहीं कर सकता। यद्यपि अनिर्णय की अवस्था में भी विरोधी मनोवेगों का एक प्रकार का संतुलन रहता है, मगर वह काव्यजन्य संतुलन से भिन्न है। इसी प्रकार संतुलन की यह स्थिति अत्यधिक हर्ष और विषाद की अवस्था से भी भिन्न है—जहां चेतना किसी एक वर्ग के मनोवेगों से आविष्ट होती है।

मनोवेगों का यह संतुलन इस रूप में निष्प्रयोजन होता है कि वह कर्म में प्रेरित नहीं करता। इस प्रकार यहां रिचर्ड्स का निष्प्रयोजनता से तात्पर्य है—कर्म में लीन होने की प्रक्रिया का अभाव। यद्यपि यह कहा गया है कि रिचर्ड्स द्वारा निष्प्रयोजनता का यह उल्लेख कांट के 'निष्प्रयोजन आनंद' का स्मरण कराता है, मगर दोनों में विवेचन के स्तर पर अंतर है। कांट का विवेचन दर्शन पर आश्रित है, जबकि रिचर्ड्स के विवेचन का आधार मनोविज्ञान है। उसने मनोवेगों के संतुलन की अवस्था की तुलना उस खिलाड़ी से की है, जो खेल में भाग लेने के लिए सन्नद्ध है। खिलाड़ी की सन्नद्धता से तुलना का अभिप्राय यह है कि मानसिक संतुलन की यह स्थिति कर्म से विच्छिन्न नहीं है जब उसमें

कर्म के संस्कार विद्यमान रहते हैं, कर्म के प्रति आसक्ति होती है; मगर कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती।

यहां यह सवाल पैदा होता है कि जब सभी सफल कविताओं के द्वारा मनोवेगों का संतुलन निष्पन्न होता है, तो क्या सभी सफल कविताएं समान रूप से श्रेष्ठ हैं या उन सबमें मनोवेगों के संतुलन की स्थिति समान होती है? इसका उत्तर यह दिया गया है कि मनोवेगों के संतुलन की अवस्था में अंतर होता है। रिचर्ड्स के अनुसार, मनोवेगों के संतुलन के दो रूप हैं— पहला, मनोवेगों के समाहार के द्वारा (बाई इंकलूशन)— जहाँ अनेक मनोवेगों का समाहार या समावेश होता है। दूसरा, मनोवेगों के बहिष्कार के द्वारा (बाई एक्सलूशन)—जहाँ कुछ सीमित मनोवेगों को स्वीकार किया जाता है तथा अधिकांश मनोवेगों का बहिष्कार या वर्जन किया जाता है। उदाहरण के लिए, प्रसाद के गीत 'बीती विभावरी जाग री', में रिचर्ड्स के अनुसार, बहिष्कार द्वारा मनोवेगों का संतुलन है और 'प्रलय की छाया में' समाहार के द्वारा संतुलन है।

मनोवेगों के संतुलन के बारे में रिचर्ड्स ने यह भी स्वीकार किया है कि इसकी सूक्ष्म एवं जटिल क्रिया के सभी पक्षों को पूरी तरह समझ पाना संभव नहीं है। कारण यह है कि मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण के विकास के बावजूद मन की विविध क्रियाओं की, वृत्तियों एवं मनोवेगों के उदय, संघर्ष और समन्विति की पूर्ण, वैज्ञानिक एवं वस्तुपरक व्याख्या संभव नहीं है, क्योंकि अध्ययन के विषयीपरक क्षेत्र के अध्ययन की सीमाएं स्पष्ट हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रिचर्ड्स की आलोचना का केंद्र, रूमानी आलोचकों के अनुरूप ही, अंतर्मन है, सहृदय या विषयी है। दोनों में अंतर यह है कि रूमानी आलोचक भाव, आवेग आदि शब्दों का प्रयोग तो करते हैं, मगर इससे आगे बढ़कर भाव या आवेग के विश्लेषण का प्रयास नहीं करते। रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान की सहायता से भाव की स्थिति से आगे बढ़कर मनोवेगों के स्तर पर सहृदय के काव्यानुभव की समीक्षा की है।

19.7 कविता और नैतिकता

किसी भी वस्तु का मूल्यांकन करते समय, हमारे मन में पहले से ही, मूल्य के सम्बन्ध में एक निश्चित अवधारणा होती है, या यों कहिए कि हम किसी पूर्व-निश्चित मानदंड के आधार पर ही वस्तु का मूल्य निर्धारित करते हैं। हम किसी वस्तु को अच्छी कह देते हैं तो किसी को बुरी। प्रश्न है कि इस 'अच्छे होने' या 'बुरे होने' का मूलाधार क्या है? रिचर्ड्स ने इसी समस्या को उठाते हुए बताया है कि प्रायः लोग नैतिक दृष्टि से ही अच्छे-बुरे का निर्णय कर डालते हैं, किन्तु स्वयं नैतिक दृष्टि का मूलाधार क्या है? इस पर किसी ने स्पष्ट रूप में विचार नहीं किया। अतः सबसे पहले 'अच्छे-बुरे' की अवधारणा का, मनोविज्ञान के आधार पर, सामान्य रूप में विश्लेषण किया जाना चाहिए।

डॉ० रिचर्ड्स के विचार से हमारी मूल्यांकन सम्बन्धी धारणाओं का सम्बन्ध मानसिक उद्वेगों से है। जो वस्तु हमारे उद्वेगों को संतुष्ट करती है, उसी को सामान्यतः मूल्यवान कहा जाता है। ये उद्वेग (Impulses) भी दो प्रकार के होते हैं— (1) प्रवृत्तिमूलक और (2) निवृत्तिमूलक। उदाहरण के लिए, प्रथम वर्ग में आकांक्षाएँ आती हैं तो दूसरे वर्ग में घृणा, निर्वेद आदि को ले सकते हैं। इन उद्वेगों में परस्पर-संघर्ष भी हो सकता है। सम्भव है कि किसी एक उद्वेग की तुष्टि से दूसरे उद्वेग को ठेस पहुँचे। यदि हम अपना कीमती पैस किसी को दान कर दें तो इससे हमारी उदारता की भावना तो तुष्ट होगी, किन्तु साथ-ही हमारी अधिकार-भावना को ठेस भी लग सकती है। ऐसी स्थिति में हमारा

प्रयास यह होता है कि हम अपने उद्वेगों को इस प्रकार शांत करें कि दूसरे उद्वेगों से उनका विरोध न हो। इस लक्ष्य की पूर्ति तभी हो सकती है, जब हम प्रमुख उद्वेगों को अधिक महत्त्व देते हुए गौण उद्वेगों की उपेक्षा करें। प्रश्न है कि प्रमुख उद्वेग कौन से हैं और क्यों? जिस उद्वेग की सन्तुष्टि करने पर अधिकाधिक उद्वेग तुष्ट होते हों तथा कम-से-कम उद्वेगों का विरोध होता हो, वही प्रमुख उद्वेग हैं। इन्हीं को अर्थशास्त्रियों ने मूलभूत आवश्यकताओं का नाम दिया है।

प्रेरणाओं की संतुष्टि में न-केवल व्यक्ति की दूसरी प्रवृत्तियाँ, अपितु अन्य व्यक्तियों की प्रेरणाएँ भी बाधक बन सकती हैं। इससे व्यक्तियों में विरोध एवं संघर्ष का आरम्भ होता है। इसी विरोध एवं संघर्ष से बचने के लिए समाज में ऐसे नीति-नियमों का विकास हुआ है, जिनसे बिना विरोध के ही अधिक-से-अधिक व्यक्तियों की सन्तुष्टि हो सके या उनकी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। अस्तु, जो नियम समाज के अधिकतर व्यक्तियों को, बिना किसी पारस्परिक विरोध के, उनकी प्रमुख प्रेरणाओं को तुष्ट करने का विधान करता है, वह सबसे अच्छा नियम है-उसी को हम नैतिक नियम कहते हैं। संक्षेप में, 'नैतिक' या 'अच्छा' या 'मूल्यवान्' का अर्थ है- जो हमारी प्रेरणाओं की तुष्टि में सर्वाधिक सहायक हो। रिचर्ड्स के शब्दों में, "कोई भी वस्तु, जो किसी एक इच्छा को इस प्रकार शांत करती है कि उससे उसके समान या अधिक महत्त्वपूर्ण इच्छा का" अवरोध नहीं होता, मूल्यवान होता है या, दूसरे शब्दों में, किसी इच्छा को यदि तुष्ट नहीं करने दिया जाता, तो उसका केवल यही आधार हो सकता है कि वैसा करने से उससे भी अधिक-महत्त्वपूर्ण इच्छाएँ कुण्ठित हो जाएंगी। इसी प्रकार व्यक्ति या जाति के द्वारा अनुमोदित (इच्छापूर्ति की) प्राथमिकता पर आधारित सामान्य योजना की ही अभिव्यक्ति नैतिकता या नियमों के रूप में होती है।"

इसी सिद्धान्त को डॉ० रिचर्ड्स साहित्य पर भी लागू करते हैं। किन्तु, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे सीधे नैतिकता के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। उनके विचार से, समाज और धर्म के सभी नैतिक नियमों, प्रथाओं, अंधविश्वासों आदि के पीछे मूलतः इच्छाओं की तुष्टि का लक्ष्य होता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हमें सभी नैतिक नियमों, प्रथाओं आदि को सर्वत्र महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए। यद्यपि प्रारम्भ में इनका विकास समाज की किसी अवस्था एवं परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार होता है, किन्तु समय के साथ-साथ वे परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। ऐसी स्थिति में उन नियमों एवं प्रथाओं को भी बदल जाना चाहिए, पर वास्तव में ऐसा नहीं होता। परिस्थितियाँ जिस तेजी से बदलती हैं, उस तेजी से हमारे नैतिक आदर्श एवं नियम नहीं बदलते। परिणाम यह होता है कि हम युग से पिछड़ जाते हैं; हमारी आन्तरिक एवं बाह्य व्यवस्था में व्याघात तथा हमारे जीवन में असंतोष उत्पन्न होता है।

समाज को अव्यवस्था एवं असंतोष की इस प्रचण्ड आग से बचाने के लिए परम्परागत आदर्शों एवं मान्यताओं में संशोधन तथा परिवर्तन की गहरी आवश्यकता का अनुभव होता है। यह परिवर्तन कैसे सम्भव है? इसका उत्तर है- "अन्य (महान्) व्यक्तियों के मस्तिष्क (या विचारों) के प्रभाव से।" कला और साहित्य के द्वारा ऐसे प्रभाव उत्पन्न किये जाते हैं, जिनसे हम अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर अग्रसर होते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में साहित्य समाज की मान्यताओं के संशोधन में योग देता है। उनके शब्दों में, "कलाकार का काम तो उन अनुभूतियों को अंकित कर देना एवं चिरस्थायी बना देना होता है, जिन्हें वह सबसे अधिक मूल्यवान समझता है। कलाकार वह बिन्दु है, जहां मन

का विकास सुव्यक्त हो उठता है। उसकी अनुभूतियों में.....कम-से-कम उन अनुभूतियों में, जो उसकी कृति को मूल्यवान बनाती हैं, ऐसे आवेगों का सामंजस्य लक्षित होता है जो अधिकतर लोगों के मन में अस्त-व्यस्त, परस्पर-अन्तर्भूत तथा द्वन्द्वरत हुआ करते हैं। जो कुछ अधिकतर लोगों के मन में अव्यवस्थित रूप में विद्यमान होता है, साहित्यकार की कृति उसी को व्यवस्था देती है।”

‘कविता कविता के लिए’ सिद्धान्त के समर्थक ब्रैडले की युक्तियों का खण्डन करते हुए भी रिचर्ड्स ने कला और नीति का परस्पर-सम्बन्ध स्वीकार किया है। उनका दृढ़ मत है कि सत्कला की मूलभूत शर्तें पूरी करने के उपरान्त कला को मानवसुख की अभिवृद्धि में निरत होना चाहिए, पीड़ितों का उद्धार करना चाहिए तथा पारस्परिक सहानुभूति के विस्तार में संलग्न होना चाहिए।

ब्रैडले के अनुसार, सौन्दर्यानुभूति विशिष्ट, स्वतःपूर्ण और अपने-आप में साध्य होती है, अतः उसके मूल्यांकन के लिए अन्य परोक्ष मूल्य अनावश्यक और घातक हैं। संस्कृति, धर्म, शिक्षा, भाव-मार्दव आदि का कला से सीधा सम्बन्ध है। अन्यथा काव्य अर्थहीन शब्द-मात्र रह जाएगा।

ब्रैडले का मत है कि कल्पनापरक अनुभूति की परख उसके भीतर से ही हो सकती है। रिचर्ड्स इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि उसकी परख भीतर से नहीं होती, उसे परखने के लिए स्मृति का आधार लेना पड़ता है। हमें यह ध्यान रखना पड़ता है कि मानव-जीवन की महान् संघटना में उसका क्या स्थान है? उसी स्थान के आधार पर हम उसका मूल्य आंकेंगे।

ब्रैडले की तीसरी स्थापना यह थी कि सृजन-प्रक्रिया में कवि को तथा अनुभव-प्रक्रिया में पाठक को परोक्ष साक्ष्यों को महत्त्व नहीं देना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से काव्य-मूल्य का क्षय होता है। रिचर्ड्स के अनुसार, यह बात अंशतः सत्य है क्योंकि सब-कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि वे परोक्ष साक्ष्य क्या हैं और कविता किस प्रकार की है? कुछ काव्य-प्रकारों में परोक्ष मूल्यों के घुस आने से काव्य का मूल्य कम हो जाएगा, पर कुछ में काव्य का मूल्य परोक्ष साक्ष्यों पर निर्भर करेगा।

ब्रैडले ने लिखा है, “काव्य की प्रकृति यह नहीं कि वह वस्तुजगत् का अंग अथवा प्रतिरूप हो, उसकी निजता इस बात में है कि वह एक स्वतंत्र, स्वतःपूर्ण, निरपेक्ष एवं स्वायत्त जगत् हो।” उनके अनुसार, कविता की प्रकृति को आत्मसात् करने के लिए हमें उसी जगत् में प्रवेश करना होगा, उसी के नियम मानने होंगे और इस भौतिक जगत् को कुछ समय के लिए भूल जाना होगा। इस प्रकार ब्रैडले कविता और जीवन में विरोध मानता है। पर रिचर्ड्स के अनुसार, वस्तुतः, ब्रैडले का मत ठीक नहीं है। काव्य-जगत् की शेष जगत् से पृथक् सत्ता हो ही नहीं सकती। उसका आनन्द लोकोत्तर कहलाते हुए भी लोक से असम्बद्ध नहीं होता। काव्यानुभूति जगत् के माध्यम से ही उपलब्ध होती है और वह जगत् की अनुभूतियों से एकदम कटी हुई नहीं होती। अन्तर केवल इतना है कि काव्य के अनुभव सीमित अनु-व-खण्ड होते हैं तथा साधारण अनु-वों की अपेक्षा वे अधिक भव्य और सुकुमार होते हैं। वे प्रेषणीय भी होते हैं, क्योंकि थोड़े-बहुत भेद के रहते भी, वे अनेक मानसों के अनुभव हो सकते हैं।

19.8 सारांश :

कवि का कर्तव्य है कि वह अपने अनुभवों को दूषित न होने दे, उन्हें साधारणीकृत कर अन्यो के आस्वाद का विषय बनाये। “इस प्रकार उन्होंने समीक्षा-क्षेत्र में चले आते रूढ़, धार्मिक व नैतिक मतों के विरोध में शुद्ध मनोवैज्ञानिक मत प्रस्तुत किया। उनका मनोवैज्ञानिक, आदर्शवादी, मानववादी दृष्टिकोण ही उनकी सबसे बड़ी देन है।”

19.9 कठिन शब्द :

- | | |
|----------------|---------------|
| 1. प्रेषण | 2. अभीष्ट |
| 3. सहलेखन | 4. साहचर्य |
| 5. विधेय | 6. निर्दिष्ट |
| 7. अन्तर्वेगीय | 8. अवरुद्ध |
| 9. उद्देश्यों | 10. अभिवृद्धि |

19.10 अभ्यासार्थ प्रश्न :

प्र1. आई. ए. रिचर्ड्स के समीक्षा सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।

प्र2. रिचर्ड्स के प्रेषणीयता के सिद्धान्त के महत्व पर विचार कीजिए।

प्र3. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए ।

क. कविता और विज्ञान

ख. कविता और नैतिकता

19.11 संदर्भ ग्रंथ / पुस्तके :

1. देवेन्द्र नाथ शर्मा – पाश्चात्य काव्यशास्त्र
2. निर्मला जैन और कुसुम बाँटिया – पाश्चात्य साहित्य-चिंतन
3. राम अवध द्विवेदी – साहित्य सिद्धांत
4. शम्भुदत्त झा – आई. ए. रिचर्ड्स के काव्य सिद्धांत ।
5. निर्मला जैन – रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र ।

अभिव्यंजनावाद

- 20.0 रूपरेखा
- 20.1 उद्देश्य
- 20.2 प्रस्तावना
- 20.3 अभिव्यंजनावाद
- 20.4 अभिव्यंजनावाद की आलोचना
- 20.5 सारांश
- 20.6 कठिन शब्द
- 20.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 20.8 सन्दर्भग्रन्थ / पुस्तकें

20.1 उद्देश्य :

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- अभिव्यंजनावाद के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- अभिव्यंजनावाद के आलोचना बिन्दुओं को जान सकेंगे ।
- अभिव्यंजनावाद समीक्षा पद्धति के विषय में बता सकेंगे ।

20.2 प्रस्तावना :

‘अभिव्यंजना का शाब्दिक अर्थ है—अभिव्यक्ति । प्रकाशन, संप्रेषण आदि इसके अन्य पर्यायवाची शब्द हैं । एक वाद के रूप में अभिव्यंजनावाद अंग्रेजी शब्द एक्सप्रेसनिज़्म का अनुवाद है । एक्सप्रेसन (Expression) के पर्याय हैं:

Locution, manifestation, speech, utterance

20.3 अभिव्यजनावाद :

कविता तथा कला द्वारा मनुष्य क्या व्यक्त करना चाहता है, कैसे व्यक्त करना चाहता है—इन्हीं प्रश्नों से जूझते आए हैं कवि, आचार्य और आलोचक। इटली के दार्शनिक **बेनेदेत्तो क्रोचे** ने इस संदर्भ में एक नया सिद्धान्त प्रस्थापित किया जिसे अभिव्यजनावाद या अन्तःप्रज्ञावाद का नाम दिया जाता है। अंतः प्रज्ञा अंग्रेजी शब्द **Intuition** का अनुवाद है। इसे मनुष्य की छठी संज्ञानात्मक शक्ति (**sixth sense**) माना जाता है। इसका संबंध आंतरिक प्रेरणा से है; यह पूरी तरह से मन और आत्मा से संबंधित है। इस स्रोत तक मनुष्य अपनी ज्ञानात्मक इन्द्रियों यथा नाक, कान, चक्षु, जिह्वा, त्वचा के आश्रय नहीं पहुँच सकता। भौतिक अनुभवों को विज्ञान द्वारा प्रदत्त उपकरणों से जांचा परखा जा सकता है। किन्तु एक विशाल क्षेत्र ऐसा है जहां विज्ञान की पहुंच नहीं हो पाती। अभिव्यजनावाद या अन्तःप्रज्ञावाद के केन्द्र में यही अलौकिक क्षेत्र है। इसका संबंध अध्यात्म से है। वैज्ञानिक चिन्तन, औद्योगिक प्रगति तथा भौतिकता के प्रति अंध मोह ने ईश्वर मन और आत्मा जैसी इकाइयों के अस्तित्व से इन्कार कर दिया। भौतिकतावादी (**Materialistic**) दृष्टि मनुष्य को आज तक अपने चंगुल में कसे हुए है। सोलहवीं शताब्दी में इस प्रवृत्ति को विशेष बल प्राप्त हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी तक पहुंचते मनुष्य आध्यात्मिकता से विमुख होने लगा। योरुप को इस भौतिकतावादी प्रवृत्ति ने विशेष रूप से आक्रांत किया। **बेनेदेत्तो क्रोचे** ने भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता और बाहरी तथ्यों की अपेक्षा अन्तः सत्ता और अंतः प्रज्ञा को महत्त्व दिया। **क्रोचे** के, इस अंतः प्रज्ञावाद को अभिव्यजनावाद कहा जाता है।

क्रोचे की मान्यता थी कि कला का सम्बन्ध मानव की सहज अनुभूति से है। यह अनुभूति मानव की आत्मा में ऐसे आकार और चित्र उत्पन्न करती है जो अरूप (**Abstract**) होते हैं। इसीलिए जब कलाकार इन्हें चित्रित करता है, तो ये चित्र अमूर्त होते हैं। "किसी वस्तु के संसर्ग से आत्मा में अनेक झंकृतियाँ जन्म लेती हैं। कलाकार इन अमूर्त छवियों को सहज प्रतिभा 'कल्पना' के आशय एक पूर्ण बिम्ब के रूप में प्रस्तुत करता है।" स्पष्टतः ये चित्रण अरूप या अमूर्त (**abstract**) होते हैं। इनका बौद्धिक ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार की अभिव्यक्ति हमें किसी वस्तु या क्रिया की सहज अनुभूति करवाती है। यहाँ याद रखना होगा कि क्रोचे की अवधारणा के अनुसार सहज अनुभूति एवं अभिव्यक्ति एक सहज प्रक्रिया है जिसे विज्ञान न स्वीकारे तो इसकी महत्ता कम नहीं होती। अभिव्यजनावादी कलाकार और कवि अध्यात्म और अन्तः प्रज्ञा (**intuition**) को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। सहजानुभूति और अभिव्यजना अलग नहीं हैं। ये दोनों एक हैं, अविभाज्य हैं, स्वाभाविक या सहज हैं और अभिव्यजना की यही शक्ति कलाकार को अन्य मनुष्यों से अलग करती है। **Intuition** के लिए हिन्दी में अन्य शब्द हैं: सहजानुभूति, स्वयं प्रकाश ज्ञान। **क्रोचे** के अनुसार आत्मा की दो क्रियाएं हैं :

1. विचारात्मक
2. व्यवहारात्मक

विचारात्मक पक्ष तर्क प्रधान भी हो सकता है; सहजानुभूति प्रधान भी। पहला पक्ष कला के सृजन में सहायक नहीं होता सहजानुभूति ही कला का कारण है। यही कला के रूप में व्यक्त होती है।

व्यवहारात्मक क्रिया के भी दो पक्ष हैं :

1. आर्थिक या अर्थ से संबंधित
2. नैतिक व्यवहार से संबंधित।

व्यवहारात्मक क्रिया सहज नहीं होती। इस क्रिया के लिए मनुष्य को प्रयास करना पड़ता है। यह मनुष्य की इच्छा और उससे जुड़े प्रयत्न पर अवलंबित होती है। 'सहजानुभूति' सहज है इस पर मनुष्य का कोई वश नहीं होता; इसके लिए कलाकार या कवि कोई योजना नहीं बनाते।

इस प्रकार सहजानुभूति और अभिव्यंजना में कोई भेद नहीं है। सहजानुभूति ही सहज अभिव्यंजना है। सामान्य कलाकार के लिए अनुभूति अलग क्रिया है, अभिव्यक्ति अलग। दूसरी ओर 'अन्तः प्रज्ञा' द्वारा प्रेरित कलाकार के लिए इनकी अलग-अलग स्थिति नहीं होती।

इन्द्रियों (नाक, कान आदि) द्वारा अनुभूत ज्ञान और अन्तःप्रज्ञा द्वारा स्फुरित ज्ञान में मुख्य भेद यही है कि पहले प्रकार का ज्ञान बाहरी अनुभवों पर आधारित होता है जब कि अन्तःप्रज्ञा से जुड़ा ज्ञान आत्मा में स्फुरित होता है। अन्तःप्रज्ञा में इस तर्क के लिए कोई स्थान नहीं होता कि वास्तविक क्या है और काल्पनिक क्या है। अन्तःप्रज्ञा देश और काल की सीमाओं से परे होती है। अमूर्त (abstract) कलाकृति सभी भौगोलिक क्षेत्रों और विभिन्न कालों में रहने वाले मनुष्यों के लिए एक समान ग्राह्य होती है।

अन्तःप्रज्ञा 'कुरूप या 'सुरूप' जैसे भेद नहीं करती। जो भी स्वयं स्फुरित होता है, वह कला और कविता का सहज विषय बन जाता है। क्रोचे के अनुसार सौन्दर्य बाहरी अनुभव का नाम नहीं है। वह आत्मा में उपजा एक बिम्ब है। क्रोचे के अभिव्यंजना सिद्धान्त के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष विचारणीय हैं :

1. अभिव्यंजना एक सहज, आध्यात्मिक प्रक्रिया है। इस का मूल आधार है—सहज कल्पना।
2. सौन्दर्य को सुन्दर-असुन्दर जैसी कोटियों में नहीं बांटा जा सकता। सौंदर्य सफल अभिव्यंजना का ही दूसरा नाम है। यदि अभिव्यंजना सफल नहीं है तो इसे अभिव्यंजना माना ही नहीं जा सकता।
3. अभिव्यंजना अमूर्त होती है। इसमें शैली और शिल्प से जुड़े तत्त्वों यथा अलंकार, छन्द का कोई महत्त्व नहीं होता।

20.4 अभिव्यंजनावाद की आलोचना :

1. शिल्प, अलंकार, आकार आदि को नकारता हुआ अभिव्यंजनावाद, कवि और कलाकार को इतनी स्वतंत्रता दे देता है कि कृति प्रायः दर्शक-पाठक की सहज समझ से बाहर हो जाती है। कलाकार स्वयं भी अपनी कृति को समझना या समझाना कर्तव्य नहीं समझता। यह कह कर कि अभिव्यंजना अन्तः प्रज्ञा से संबद्ध है, वह सभी जिम्मेदारियों से मुक्त हो जाता है।
2. अभिव्यंजनावादी कलाकृति या कविता इतनी अमूर्त हो जाती है कि वह दर्शक-पाठक की समझ में नहीं आ पाती। प्रत्येक व्यक्ति की अन्तःप्रज्ञा (Intuition) अलग होती है। इस प्रकार अभिव्यंजना का सामाजिक महत्त्व समाप्त हो जाता है।

3. अभिव्यंजना का मूल उद्देश्य प्रकाशन ही नहीं, संप्रेषण भी है। घोर अभिव्यंजनावादी इस वास्तविकता की ओर ध्यान नहीं देते।

20.5 सारांश :

प्रतीकवाद के साथ जुड़ कर अभिव्यंजनावादी कृतियाँ इतनी अमूर्त हो गईं कि ये व्यक्ति का निजी खिलवाड़ बन कर रह गईं। धीरे-धीरे अभिव्यंजनावाद अमूर्तवाद बन गया और अध्यात्म से इसका संबंध टूट गया। वर्ष और सदियों बीतने के साथ भौतिकता का आग्रह बढ़ता गया। वर्तमान परिदृश्य में बाजारवादी और उपभोक्तावादी सभ्यता का बोलबाला है। कभी-कभी आध्यात्मिक स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। किन्तु समग्रतः विश्व की प्रवृत्ति भौतिकतावादी है। इस प्रकार के वातावरण में अन्तःप्रज्ञा और अध्यात्म की बातें बेसुरी लगने लगी हैं। अभिव्यंजनावाद अपने विशुद्ध, मूल रूप को बनाए रखने में असमर्थ हो गया है।

20.6 कठिन शब्द :

- | | |
|-------------|------------|
| 1. प्रदत्त | 2. संसर्ग |
| 3. अविभाज्य | 4. स्फुरित |
| 5. विशुद्ध | |

20.7 अभ्यासार्थ प्रश्न :

- प्र1. क्रॉचे द्वारा स्थापित अभिव्यंजनावाद सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

- प्र2. अभिव्यंजनावाद के आलोचना बिंदुओं को स्पष्ट करें।

20.8 संदर्भ ग्रंथ/पुस्तकें :

1. डॉ रामअवध द्विवेदी – साहित्य सिद्धांत
2. डॉ लक्ष्मी नारायण सुधांशु – काव्य में अभिव्यंजनावाद
3. डॉ देवेन्द्रनाथ शर्मा – पाश्चात्य काव्यशास्त्र
4. प्रो. निर्मला जैन तथा डॉ कुसुम बांठिया – पाश्चात्य साहित्य चिंतन

मनोविश्लेषणवाद

- 21.0 रूपरेखा
- 21.1 उद्देश्य
- 21.2 प्रस्तावना
- 21.3 मनोविश्लेषणवाद
- 21.4 सारांश
- 21.5 कठिन शब्द
- 21.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 21.7 सन्दर्भग्रन्थ/पुस्तकें

21.1 उद्देश्य :

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- मनोविश्लेषणवाद के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- मनोविश्लेषण को लेकर फ्रायड की स्थापनाओं से अवगत होंगे ।

21.2 प्रस्तावना :

मनुष्य एक व्यक्ति या समाज के सदस्य के रूप में जो भूमिका निभाता है, उसके कारणों और स्रोतों को जानने का प्रयत्न दार्शनिक सदा से करते आए हैं। उन्नीसवीं सदी के दार्शनिक सिगमंड फ्रायड का नाम इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने आत्मा और मन जैसी इकाइयों की अवस्थिति से इन्कार कर दिया था किन्तु मनुष्य के कुछ व्यवहार इतने विचित्र होते हैं कि विज्ञान उनके कारणों का निदान और उनसे उपजने वाले रोगों का उपचार नहीं कर पाता। यहीं मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।

21.3 मनोविश्लेषणवाद :

मनोविज्ञान मनुष्य के चिन्तन और व्यवहार का अध्ययन करता है और मनोविश्लेषण इनके कारणों को पहचानकर मनोरोगी का उपचार करता है।

सिगमंड फ्रायड (1856-1939) विकासवादी वैज्ञानिक डार्विन से प्रभावित थे। डार्विन ने स्थापना की थी मनुष्य किसी दैवी इच्छा से अवतरित प्राणी नहीं है। इसका विकास हुआ है। यह सिद्धान्त मनुष्य को अन्य पशुओं के समकक्ष ला कर खड़ा कर देता है।

दूसरी ओर मनुष्य के बहुत-से व्यवहार ऐसे होते हैं जिनके कारण तक पहुंच पाना कठिन होता है। फ्रायड एक चिकित्सक थे। उन्हें महसूस होता कि मनोरोगियों के असामान्य व्यवहारों का चिकित्साशास्त्र के नियमों का पालन करते हुए निदान नहीं किया जा सकता।

फ्रायड के अनुसार मनोविश्लेषण की दो मूलभूत स्थापनाएं हैं :-

1. मानसिक प्रक्रम अचेतन (Unconscious) अर्थात् अज्ञात होते हैं। जो प्रक्रम या चिह्न चेतन (Conscious) या ज्ञात होते हैं, वे भी पूर्ण मानसिक सत्ता के हिस्से होते हैं।
2. स्नायु और मानसिक गड़बड़ें पैदा करने वाले आवेगों में काम (sex) का बहुत बड़ा हाथ होता है। फ्रायड ने 'मन' के तीन मुख्य भाग माने चेतन (conscious), अवचेतन (sub-conscious) और अचेतन (unconscious)

सामाजिक जीवन को निभाने की चिन्ता में मनुष्य को ऐसे असंख्य आवेगों और दबावों से समझौता करना पड़ता है जिन्हें वह बिल्कुल पसन्द नहीं करता। मनुष्य बहुत-से व्यवहार करना चाहता है किन्तु सामाजिक आग्रहों के कारण कर नहीं सकता। वह बहुत-सी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है किन्तु उसकी विवशताएँ आड़े आ जाती हैं। फलस्वरूप वह इच्छाओं का दमन करता है। ये दमित इच्छाएँ उसके अवचेतन और अचेतन में फँक दी जाती हैं। ये दबी हुई इच्छाएँ लगातार 'चेतन' स्तर पर आने का यत्न करती रहती हैं और 'चेतन' उन्हें निचले स्तरों पर फँकता रहता है। इस प्रकार, एक ओर चेतन तथा दूसरी ओर अवचेतन तथा अचेतन की सांझी प्रक्रिया के बीच संघर्ष चलता रहता है। दमित इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ मनुष्य के व्यवहार को असामान्य बना देती हैं; वह एक मनोरोगी बन जाता है। अपने व्यवहार का कारण रोगी स्वयं तो जानता ही नहीं; उसके चिकित्सकों के लिए भी यह अज्ञात रहता है। मनोविश्लेषण की सारी प्रक्रिया इन्हीं रहस्यों को खोजने के प्रयास का दूसरा नाम है।

फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों के निम्नलिखित प्रमुख बिन्दु थे :

1. सभी आदर्श खोखले हैं। चेतन की अपेक्षा अवचेतन और अचेतन कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।
2. सभी क्रियाओं का मूल 'काम' है।
3. प्रवृत्तियों पर अंकुश रखने से व्यक्तित्व में अनेक अस्वाभाविक प्रवृत्तियाँ विकसित हो जाती हैं।

4. मनुष्य जो कुछ करता है, वह अकारण नहीं करता, उसका कोई-न-कोई कारण अवचेतन या फिर अचेतन में स्थित होता है।

बार-बार की दमन, क्रिया से हीन भावना जन्म लेती है, एक मानसिक ग्रन्थि (Complex) बन जाती है। अब व्यक्ति का सारा व्यवहार इसी ग्रन्थि या कुण्डा द्वारा परिचालित होता है।

फ्रायड का मानना था कि व्यक्ति की ग्रन्थियाँ (Complexes) शैशव अवस्था में ही बन जाती हैं। फ्रायड ने स्वप्नों, दिवास्वप्नों, लेखन और वाचन में होने वाली अलक्षित गलतियों आदि का भी अध्ययन किया और स्थापना की कि इन सब में दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति होती है।

पुनः याद रखना होगा कि असामान्य व्यवहारों का मनोविज्ञान ही मनोविश्लेषणवाद का रूप ग्रहण करता है। मनोविज्ञान में सामान्य तथा असामान्य दोनों प्रकार के व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है।

फ्रायड के मनोविश्लेषण सम्बन्धी सिद्धान्तों को ऐडलर (Adler) ने विकसित किया। मानसिक ग्रन्थि या कांफ्लेक्स को ऐडलर भी बहुत महत्त्व देता है किन्तु वह फ्रायड की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता कि सभी कुण्डाओं का जन्म शैशवकाल में हो जाता है। ऐडलर काम (Sex) को इतना महत्त्व नहीं देता। उसके अनुसार मनुष्य की स्वप्रकाशन (Self-assertion) की भावना उसके व्यवहार को विशेष रूप से परिचालित करती है। मनुष्य को समाज में समायोजन (adjustment) की आवश्यकता होती है और इसी प्रयास में उसका व्यवहार असामान्य हो जाता है। व्यक्ति के आदर्श, मैत्री संबंध तथा यौन सम्बन्ध मिलकर उसका सामाजिक व्यवहार निर्धारित करते हैं। ऐडलर मानता था कि स्वप्नों में व्यक्ति की विषय-विषयक चिन्ताएँ भी अभिव्यक्ति पाती हैं।

फ्रायड को ही मनोविश्लेषण का जनक माना जाता है किन्तु इस संदर्भ में एक अन्य वैज्ञानिक युंग (Jung) की चर्चा आवश्यक है। युंग ने फ्रायड की भांति मन की प्रकल्पना में अचेतन का महत्त्व माना। उसने मन के दो भाग किए : चेतन तथा अचेतन। अचेतन के उसने पुनः दो भाग किए व्यक्ति-अर्जित या वैयक्तिक तथा सामूहिक। सामूहिक (collective) अचेतन में उसने मनुष्य के पैतृक दाय को भी सम्मिलित किया। मनुष्य को बहुत कुछ अपने पूर्वजों से प्राप्त होता है। पैतृक, आनुवंशिक, जातिगत विशेषताएँ अचेतन का अनिवार्य भाग होती हैं तथा समय-समय पर ये चेतन में आने का प्रयास करती रहती हैं। युंग ने मनुष्यों में व्यक्ति के दो भेद किए नारी-गुण-प्रधान तथा पुरुष-गुण-प्रधान। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, उसमें कुछ गुण नारी के होते हैं; कुछ गुण नर के। व्यक्तित्व की पुनः दो अन्य कोटियाँ हैं : अन्तर्मुखी (Introvert) तथा बहिर्मुखी (Extrovert)। विचार, भाव, संवेदन तथा सहजज्ञान या इंट्यूशन मनुष्य की चार शक्तियाँ हैं जो उसके व्यवहारों को रूप देती हैं।

जब कोई भी नया विचार मानव-समाज में प्रचार पाता है, विश्व भर में उसके प्रति आकर्षण बढ़ता है। मनोविश्लेषकों ने अवचेतन और अचेतन में विद्यमान एक विस्तृत और विराट लेकिन अदृश्य संसार की ओर चिन्तकों को आकृष्ट किया।

21.4 सारांश :

फ्रायड के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर साहित्यकार ऐसा साहित्य रचने लगे जिसमें असामान्य व्यवहार करने वाले चरित्रों की भरमार थी। काम-सम्बन्धों को भी महत्त्व मिला। इस प्रकार मनोविश्लेषण, जिसका मूल सम्बन्ध चिकित्सा और मनोविज्ञान से था, साहित्य में एक वाद के रूप में प्रस्तुत हुआ। साहित्यकार मन में अवस्थित दमित इच्छाओं और कुंठाओं का चित्रण करने लगे। साहित्य में असामान्य व्यवहार करने वाले चरित्रों की रचना होने लगी। विशेष पात्र के व्यवहार की पृष्ठभूमि में विद्यमान, संभावित कारणों को प्रस्तुत किया जाने लगा। दमित इच्छाओं को महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा। इसीलिए माना गया कि मनोविश्लेषणवादी साहित्य मानसिक रूप से रुग्ण व्यक्तियों का चिकित्सालय बन कर रह गया। सामाजिक आंदोलनों और सामाजिक समस्याओं के आग्रह ने साहित्यकारों को मनोविश्लेषणवाद के घेरे से शीघ्र मुक्ति प्रदान कर दी। इसमें सन्देह नहीं कि चिकित्सा शास्त्र तथा मनोविज्ञान में मनोविश्लेषण का महत्त्व बना हुआ है। ऐलिस हैवलाक जैसे मनोविश्लेषकों ने इस क्षेत्र में नई स्थापनाएँ की जिससे साहित्य सामाजिक उत्तरदायित्वों से निरपेक्ष होने लगा। यथार्थवाद के साथ मिलकर मनोविश्लेषणवाद मन की अंध गुहाओं में झांकने का बहाना करके अश्लीलता की ओर बढ़ने लगा। इसी कारण इसे साहित्यिक वाद के रूप में चिरस्थायित्व नहीं मिल सका।

21.5 कठिन शब्द :

- | | |
|--------------|-------------|
| 1. अवस्थिति | 2. अवतरित |
| 3. निदान | 4. अलक्षित |
| 5. अनतर्मुखी | 6. परिचालित |
| 7. आनुवंशिक | |

21.6 अभ्यासार्थ प्रश्न :

प्र1. मनोविश्लेषणवाद से आप क्या समझते हैं | स्पष्ट करें |

प्र2. फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए ।

21.7 संदर्भ ग्रंथ/पुस्तके :

1. प्रो. के. अहमद – मनोविश्लेषण और साहित्यालोचना ।
2. प्रो. के. निर्मला जैन – रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र ।
3. डॉ. रवीन्द्र सहाय वर्मा – पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव ।

यथार्थवाद

- 22.0 रूपरेखा
- 22.1 उद्देश्य
- 22.2 प्रस्तावना
- 22.3 यथार्थवाद
- 22.4 सारांश
- 22.5 कठिन शब्द
- 22.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 22.7 सन्दर्भग्रन्थ/पुस्तकें

22.1 उद्देश्य :

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- यथार्थ एवं यथार्थवाद के अन्तर को जान सकेंगे ।
- यथार्थवाद के आरंभ के विषय में जानकारी हासिल करेंगे ।
- यथार्थवाद के रूपों से अवगत हो सकेंगे ।

22.2 प्रस्तावना :

यथार्थ एक ऐसा तत्व है जिसका अर्थ सत्य और वास्तविकता से जोड़ा जा सकता है। जिसका स्थान कला में निश्चित है यह चिरकाल से साहित्य में समाहित होकर हमें अतीत की परिस्थितियों की जानकारी देता है। यथार्थ के बारे में शिव कुमार कहते हैं— “कला के अन्तर्गत स्थान पाने वाला यथार्थ, बाह्य यथार्थ से विशिष्ट होते हुए भी अंततः उसी का अविच्छिन्न अंग है।” (शिव कुमार मिश्र, यथार्थवाद, पृ. 3) यथार्थवाद का सम्बन्ध आधुनिक विचारधारा से है जिसने अलौकिकता को छोड़ इहलौकिक अर्थात् वस्तुगत यथार्थ को विशेष रूप से चुना। भौतिकता एक विशेष गुण होने के कारण इसे ‘भौतिक यथार्थवाद’ भी कहा जाता है।

यथार्थवाद और आदर्शवाद दो विरोधी विचारधाराएं हैं। जो वस्तु जैसी है, उसका उसी रूप में वर्णन करना 'यथार्थवाद' है जबकि आदर्श के अनुरूप वस्तु को मनोनुकूल रूप में प्रस्तुत करना आदर्शवाद है। यथार्थवादिता का विश्वास है कि :

1. यथार्थ को देखा-परखा जा सकता है तथा उसका निरपेक्ष एवं तटस्थ अध्ययन किया जा सकता है।
2. हमारे चारों ओर जो यथार्थ जगत् है, उसमें परिवर्तन करने या विकृत करके प्रस्तुत करने का हमें कोई अधिकार नहीं है।
3. बुद्धि का प्राप्त ज्ञान ही मनुष्य की सभी प्रतिक्रियाओं में सहायक होता है।

22.3 यथार्थवाद :

यूरोप में 'यथार्थवाद' का आरंभ एक प्रकार से 'स्वच्छन्दतावाद' के विरोध में हुआ था। स्वच्छन्दतावादी रचनाकार वास्तविक जगत् से परे कल्पनालोक में विचरण करते थे। उनकी रचनाओं में आलौकिक तत्व अधिक होते थे। उनके पात्र महिमामंडित होते थे। उनके कार्यकलाप अविश्वसनीय, अवास्तविक और स्वच्छन्द होते थे। इसकी प्रतिक्रिया में इस भौतिक जगत् के वास्तविक जीवन के चित्रण की प्रवृत्ति ने 'यथार्थवाद' को जन्म दिया।

डार्विन का विकासवाद, मार्क्स का वर्ग संघर्ष सिद्धान्त एवं फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद वस्तुतः यथार्थवाद की पृष्ठभूमि में माने जा सकते हैं। यथार्थवादियों ने साहित्य को आदर्श रूप में प्रस्तुत किए जाने का विरोध किया और जो जैसा है, उसका वैसा ही चित्रण करने पर बल दिया।

ऐसा माना जाता है कि यथार्थवादी कला का आरम्भ 1856 ई. में फ्रेंच लेखक फ्लावेयर (Flaubert) की प्रसिद्ध रचना 'मादाम बावेरी' के प्रकाशन से हुआ। यद्यपि फ्लावेयर स्वयं अपनी रचना पर ऐसा कोई लेबुल लगाने के पक्ष में नहीं थे। इसके बाद बाल्जाक (Balzac) और जोला (Zola) ने इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया। इन लोगों ने जिस 'यथार्थवाद' को प्रश्रय दिया वह 'प्रकृतवाद' कहा गया है। ये लोग प्रकृति के सत्य को विशेष महत्व देते थे। इसलिए इन लोगों ने मानव-जीवन को भी उसकी नग्न वास्तविकता में चित्रित किया। उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण में फ्रांस में ही 'यथार्थवाद' की इस प्रवृत्ति का विरोध होने लगा। इसके बाद यथार्थवादी कला का विकास रूस में लक्षित होता है। दास्तोवस्की (Dostoevsky) के प्रथम उपन्यास 'पुअर पिपुल' को यथार्थवादी उपन्यास माना गया है। इसके बाद रूस में ही टालस्टाय (Tolstoy) 'गेगोल' (Gogol) और गोर्की (Gorky) ने यथार्थवादी कला को विकसित किया। गोर्की की कृतियों में 'यथार्थवाद' का वह रूप लक्षित हुआ जिसे 'सामाजिक यथार्थवाद' कहा जाता है। जोला, विक्टर ह्यूगो की रचनाएं भी 'यथार्थवादी' हैं।

यथार्थवाद संसार में व्याप्त कलुष और मलिनता पर पर्दा नहीं डालता, अपितु उसका यथार्थ चित्रण करता है। वह मानसिक सत्य को यथार्थ नहीं मानता, अपितु जगत् में व्याप्त कुण्डा, निराशा, वर्जना, अनास्था का

ही यथार्थ चित्रण करने में विश्वास करता है।

‘यथार्थवाद’ के अनेक रूप हैं। प्रकृतवादी यथार्थ और सामाजिक यथार्थ के साथ ही ‘अतियथार्थवाद’ (Suffealis) की चर्चा की जाती है। अतियथार्थ, प्रकृतवादी यथार्थ की बाह्य और सतही वास्तविकता की प्रतिक्रिया में आया था। यह आन्दोलन भी फ्रांस में ही अधिक लोकप्रिय हुआ। ऐसा समझा जाता है कि इस आन्दोलन का सूत्रपात चार्ल्स बोदेलेयर (1821-1876 ई.) ने किया था किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद इसे विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। ‘अतियथार्थवाद’ मनोजगत् की विकृतियों को चित्रित करता है। इसे फ्रांस के प्रसिद्ध कवि आंद्रे ब्रेतन (Andre Breton) ने पूरा समर्थन दिया। उसने 1924 ई. में इसका मैनीफेस्टो प्रस्तुत किया। यह आन्दोलन कविता के साथ ही चित्रकला के क्षेत्र में भी लोकप्रिय हुआ। ‘अतियथार्थवादी’ यह मानते हैं कि वास्तविक यथार्थ वह है जो अवचेतन में विद्यमान होता है। इस पर नैतिक मूल्यों का कोई दबाव नहीं होता। स्वप्नावस्था में इसे लक्षित किया जा सकता है। इसे व्यक्त करने के लिए चेतना-प्रवाह शैली (Stream of consciousness) का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी-साहित्य में ‘अतियथार्थवाद’ का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है।

हिन्दी-साहित्य में ‘यथार्थवाद’ तो नहीं किन्तु यथार्थ-चित्रण का आरंभ भारतेन्दु के नाटकों से ही लक्षित किया जाता है किन्तु आगे चलकर ‘प्रगतिवादी’ और ‘प्रयोगवादी’ काव्यान्दोलनों में इसका पूर्ण विकास लक्षित होता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी यथार्थवादी कला का रूप क्रमशः निखरता गया है। उसके बाद उपेन्द्रनाथ ‘अशक’ और यशपाल के उपन्यासों में भी इसका रंग और गहरा हुआ है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक यथार्थ का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। छायावादी युग के कवियों में ‘निराला’ की रचनाओं में ‘सामाजिक यथार्थ’ के अत्यन्त प्रभावी चित्र देखे जा सकते हैं। प्रगतिवादी काव्यधारा में यथार्थ पर विशेष बल दिया गया है। प्रगतिवादी काव्य अपने श्रेष्ठ और सशक्त रूप में ‘यथार्थवादी’ काव्य है। यह प्रवृत्ति ‘प्रयोगवाद’ में भी कुछ विशिष्ट बौद्धिक जटिलता के साथ बनी हुई है और इसका अविच्छिन्न प्रवाह ‘नयी कविता’ तथा उससे जुड़े हुए परवर्ती काव्यान्दोलनों में भी देखा जा सकता है। इस संदर्भ में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी का निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य है – “प्रगतिवाद के उपरान्त प्रयोगवाद को भी यथार्थवाद का दाय मिला। एक प्रकार से प्रयोगवाद में यथार्थवादी प्रवृत्ति कुछ और गहरी हुई। जीवन की तुच्छ से तुच्छ परिस्थिति को भी साहित्य में चित्रित करने योग्य समझा गया। द्वितीय महायुद्ध ने यथार्थवाद को साहित्य में और अधिक ग्राह्य बनाया और इस प्रकार ‘प्रयोगवाद’ ने इस मौलिक प्रवृत्ति को अपनी आधारशिला के रूप में स्वीकार किया।” (हिन्दी साहित्यकोश, भाग 1, पृ. 511)

हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकार मुन्शी प्रेमचन्द के अनुसार, “यथार्थवाद चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। यथार्थवादी रचनाकार का उद्देश्य यह नहीं होता कि वह अपनी रचनाओं में नेकी का फल नेक और बदी का फल बद दिखाए। चूंकि समाज में इसके विपरीत उदाहरण मिलते हैं इसलिए यथार्थवादी अपनी रचना में भी इस सच्चाई को उजागर करता है।”

वस्तुतः 'यथार्थवाद' साहित्य की एक व्यापक प्रवृत्ति है। इसे सीमित दायरे में बांधा नहीं जा सकता। इसीलिए इसकी न तो कोई नयी-तुली परिभाषा दी जा सकती है, न इसका कोई एक निश्चित स्वरूप ही निर्धारित किया जा सकता है। इसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक इतना ही कहा जा सकता है कि यह अलौकिक, काल्पनिक, और संभाव्य अवधारणा-मूलक जीवन-स्थितियों, पात्रों और घटनाओं का रंगीन चित्र न होकर सहज, परिचित, वास्तविक एवं नित्यप्रति के जीवन में अनुभूत होने वाली स्थितियों और घटनाओं का चित्रण होता है। जो कुछ हमारे दैनन्दिन जीवन में हमारे आस-पास नित्यप्रति घटित होता है, वही हमारा यथार्थ है। यों तो जिसे हम आदर्श कहते हैं, वह भी अयथार्थ नहीं होता फर्क इतना ही है कि वह कभी-कभी और कहीं-कहीं बहुत सीमित रूप में घटित होता है। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि यथार्थ-चित्रण की प्रवृत्ति रोमैंटिक साहित्य की प्रतिक्रिया के रूप में प्रचलित एवं ग्राह्य हुई। इसलिए इसकी मूल प्रकृति गैर-रोमैंटिक होती है। नयी-कविता के यथार्थ को जटिल इसलिए कहा गया है कि उसका मूल स्वर गैर-रोमैंटिक था। यथार्थवाद में न तो गलदश्रु भावुकता होती है, न इन्द्रधनुषी कल्पना। इसमें धरती का ठोस और खुरदुरा जीवन ही उभर कर सामने आता है। आवश्यक नहीं है कि हम यथार्थ के नाम पर कुत्सित, अश्लील, और वीभत्स जीवन-स्थितियों का ही चित्रण करें। यह भी आवश्यक नहीं है कि हम यथार्थ को कुछ अविचल नियमों में बाँधकर संकीर्ण और यांत्रिक बना दें। वाद-मुक्त ठोस वास्तविकता का चित्रण ही साहित्य में यथार्थ के रूप में स्वीकार्य है।

राल्फ फाक्स का मत है कि सच्चा यथार्थवादी बाह्य जगत् के चित्रण के साथ-साथ मानव की मानसिक वृत्तियों का भी उद्घाटन करता है। वह आदर्श को भी साथ लेकर चलता है। बालजक आदि का दृष्टिकोण एकांगी ही है, क्योंकि उन्होंने युगीन परिवेश का घृणित रूप ही प्रस्तुत किया है। सच्चा यथार्थवादी मानव को निराशावादी नहीं अपितु आशावादी बनाता है। सम्भवतः इसी कारण प्रेमचन्द की कृतियों में आदर्शान्मुखी यथार्थवाद का चित्रण अधिक हुआ है। यथार्थवाद उच्चतर आदर्शों की ओर प्रेरित करने वाला होना चाहिए, न कि मन को निराश एवं कुण्ठित करने वाला।

आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि ने 'यथार्थवाद' को प्रेरित और प्रभावित किया। वैज्ञानिकों के अनुसार यह दृश्यमान जगत् भौतिक कार्य-कारण का परिणाम है। इसकी स्थिति और गति में किसी परोक्ष और दिव्य सत्ता का कोई योगदान नहीं है। इस मान्यता ने साहित्य के क्षेत्र को भी प्रभावित किया।

22.4 सारांश :

यथार्थवाद यथार्थ चित्रण पर बल देता है लेकिन इसमें बाहरी यथार्थ चित्रण के साथ लेखक की अनुभूति भी शामिल है क्योंकि अनुकरण के साथ लेखक की स्वः अनुभूति भी रचना में शामिल है और यथार्थ आन्तरिक अर्थात् भावजगत और वस्तुजगत दोनों हैं। इस प्रकार यथार्थ और यथार्थवाद दोनों में अन्तर है। यथार्थ में अनुभवों, भाव विचारों की स्वतन्त्र सत्ता है। यह साहित्य में वास्तविकता का रूप लिए हुए विद्यमान है जबकि यथार्थवाद इन्हें बाह्य जगत् के अनुकरण के साथ जोड़कर देखता है। यथार्थवाद, यथार्थ परक साहित्य पर

विशेष बल देता है। यह एक विशेष विचारधारा है।

22.5 कठिन शब्द :

- | | |
|------------|---------------|
| 1. चिरकाल | 2. इहलौकिक |
| 3. वर्जना | 4. अविच्छिन्न |
| 5. गलदश्रु | 6. कुण्ठा |

22.6 अभ्यासार्थ प्रश्न :

प्र1. यथार्थवाद से आप क्या समझते हैं ? इसके आरंभ पर प्रकाश डालिए ।

प्र2. यथार्थवाद के रूपों को स्पष्ट करें ।

प्र3. अतियथार्थवाद पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ।

प्र4. सामाजिक यथार्थवाद से आप क्या समझते हैं | स्पष्ट कीजिए ।

22.7 संदर्भ ग्रंथ/पुस्तके :

1. डॉ जगदीश चन्द्र जैन – पाश्चात्य समीक्षा दर्शन ।
2. डॉ त्रिभुवन सिंह – यथार्थवाद ।
3. डॉ नगेन्द्र (संपा.) – पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धांत और वाद ।
4. डॉ त्रिभुवन सिंह – हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद
5. डॉ शिव कुमार मिश्र – यथार्थवाद

अस्तित्ववाद

- 23.0 रूपरेखा
- 23.1 उद्देश्य
- 23.2 प्रस्तावना
- 23.3 अस्तित्ववाद का अर्थ
- 23.4 अस्तित्वादी दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त
- 23.5 सारांश
- 23.6 कठिन शब्द
- 23.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 23.8 सन्दर्भग्रन्थ/पुस्तकें

23.1 उद्देश्य :

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- अस्तित्ववाद के अर्थ को जान सकेंगे ।
- अस्तित्ववाद दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

23.2 प्रस्तावना :

‘अस्तित्व’ का सामान्य कोशगत अर्थ है— जीवन, मौजूदगी, वजूद, विद्यमानता, सत्ता, हस्ती।

‘अस्तित्व’ शब्द अंग्रेजी शब्द ‘Existence’ का हिन्दी पर्याय है। इस शब्द के अंग्रेजी अर्थ हैं—

To be, Have one’s being, Live Occur, The state or fact of existence.

इस सृष्टि में पृथ्वी पर ही जीवन है। अब तक की वैज्ञानिक खोज किसी अन्य ग्रह पर जीवन के चिह्न देख नहीं पाई है। पृथ्वी पर अनेक जीवधारी हैं किन्तु मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसे अपने अस्तित्व की चेतना है। मनुष्य

ने अपने प्रयत्नों से अपने अस्तित्व को, अपने जीवन के महत्त्व को पहचाना है। इस प्रकार 'अस्तित्ववाद' का अध्ययन करते समय हम मनुष्य के अस्तित्व और इस अस्तित्व से जुड़ी हुई समस्याओं पर विचार करते हैं।

इस धरती पर मनुष्य का अस्तित्व है; इसीलिए सृष्टि और यहाँ तक कि ईश्वर के विषय में भी विचार हुआ है। यदि मनुष्य का अस्तित्व न होता, तो सृष्टि और पृथ्वी के किसी पदार्थ या प्राणी के विषय में कोई चिन्तन न हुआ होता। मनुष्य कर्म करता है, चिन्तन करता है और ऐसा करने में वह स्वतन्त्र है— यही अस्तित्ववाद का मूल मंत्र है।

इस प्रकार हमें ली भांति समझ लेना चाहिए कि अस्तित्ववाद के संदर्भ में अस्तित्व का अर्थ है— मनुष्य का अस्तित्व। मनुष्य ही सृष्टि के तत्त्वों की पहचान करता है; वह अपनी भी पहचान करने की कोशिश करता है; वह अपना विकास करता है और इस विकास के प्रति सजग रहता है। वह जानता है कि वह क्या कर रहा है, क्या बन रहा है। यही चेतना उसे अन्य प्राणियों से अलग, विलक्षण बना देती है।

23.3 अस्तित्ववाद का अर्थ :

अस्तित्ववादी चिन्तन को समझने के लिए इस सूत्र को समझना आवश्यक है—

अस्तित्व सार से पूर्ववर्ती है।

Existence precedes essena

अस्तित्व का अर्थ है — मनुष्य का होना और 'सार' वह गुण या विशेषता है जो मनुष्य द्वारा सृष्टि के तत्त्वों के लिए निश्चित की गई है। मनुष्य के 'अस्तित्व' से पहले कुछ नहीं होता। अर्थात् मनुष्य ही सभी तत्त्वों की पहचान करता है। हम विभिन्न पदार्थों को उसी रूप में पहचानते हैं, जिस रूप में मनुष्य ने उन्हें जाना—पहचाना है। मनुष्य के बिना कुछ भी नहीं होता। ईश्वर की संकल्पना भी मनुष्य ने की है। वैसे, अस्तित्ववाद यह मान कर चलता है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है और इस स्वतंत्रता पर ईश्वर—नामी सत्ता का कोई अंकुश नहीं है। विश्व के दर्शन या तो पदार्थ (Matter) को महत्त्व देते हैं; या विचार (Idea) को। पहले दर्शन भौतिकवादी हैं। वे मनुष्य को अन्य पदार्थों से अलग नहीं मानते। दूसरी कोटि के दर्शन मनुष्य के कर्मों का नियमन करने वाली किसी अदृश्य सत्ता में विश्वास करते हैं। इन दोनों दर्शनों के विपरीत अस्तित्ववाद मनुष्य को महत्त्वपूर्ण घोषित करता है।

दो महायुद्धों से उपजी त्रासदी ने मनुष्य को नए सिरे से सोचने को विवश किया। मनुष्य के पास दो विकल्प हैं : एक ओर संपूर्ण विनाश है तो दूसरी ओर नवनिर्माण की असीम संभावनाएँ हैं। मनुष्य को अपने अस्तित्व के पक्ष में निर्णय लेना है। यह उसका मानवीय दायित्व है।

अस्तित्ववादी चिन्तकों के दो वर्ग रहे हैं :

1. ईश्वरवादी 2. अनीश्वरवादी।

ईश्वरवादी चिन्तकों में कार्ल यास्पर्स, पास्कल, कीर्केगार्द, मार्सल आदि दार्शनिकों की गणना होती है। इस प्रकार के लोगों की अवधारणा है कि ईश्वर ने ही मनुष्य को अपने विकास की चेतना और शक्ति प्रदान की। यदि मनुष्य इस शक्ति का दुरुपयोग करता है तो वह ईश्वरीय इच्छा के विरोध में खड़ा होता है।

अनीश्वरवादी दार्शनिकों में हाइडेगर तथा सार्त्र जैसे मनीषियों की गणना होती है। फ्रांसीसी दार्शनिक नीत्सो ने तो घोषणा कर दी कि ईश्वर मर चुका है।

लोकतंत्र के प्रति बढ़ती आस्था ने भी अस्तित्ववादी दर्शन को महत्त्व प्रदान किया। समस्त विश्व के मनुष्यों में मानवीय संवेदना अवस्थित है। मनुष्य अमीर हो या गरीब; वे भूगोल के किसी भी प्रदेश के निवासी हों, मानवीय संवेदना उन्हें एक-दूसरे से जोड़ती है।

23.4 अस्तित्ववादी दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त

1. मानवीय निष्ठा :

अस्तित्ववादियों को मनुष्य की शक्ति और विकास के प्रति निष्ठा पर अगाध विश्वास है। यहाँ मनुष्य का अर्थ है— पृथ्वी पर रहने वाले सभी मनुष्य। जब मनुष्य कुछ करना चाहता है तो वह मानव मात्र के लिए शुभ का चयन करता है। मनुष्य के लिए इस मानवीय निष्ठा का अतिक्रमण संभव नहीं है।

2. उत्तरदायित्व :

प्रत्येक मनुष्य अपने आपको सारी मानवता के प्रति उत्तरदायी मानता है। जो मनुष्य इस उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं कर पाता, वह अपनी मानवता को अस्वीकार कर देता है; उसके लिए अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं है।

3. चयन का सिद्धान्त :

मनुष्य कर्म के लिए स्वतन्त्र है। वह बहुत-से विकल्पों में से अपने लिए श्रेष्ठ विकल्प चुन सकता है। लक्ष्य और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन के चुनाव की स्वतंत्रता का बोध मनुष्य को विकास और प्रगति के प्रति आश्वस्त करता है।

4. एकाकीपन का बोध :

मनुष्य की विडंबना यह है कि एक ओर वह प्राणियों तथा सृष्टि के तत्त्वों के बीच रहता है और दूसरी ओर महसूस करता है कि सारी सृष्टि में वह अकेला है। संकट के समय उसकी कोई सहायता नहीं करता। यदि ईश्वर की सत्ता है, तो ईश्वर भी संकट के समय मनुष्य की सहायता नहीं करता।

5. चिन्ता और पीड़ा :

चिन्ताहीन रहना मनुष्य की प्रवृत्ति में नहीं है। मनुष्य जो कुछ करता है, वह उसे चिन्ता प्रदान करता है; मनुष्य जो कुछ कर नहीं पाता, वह भी उसे चिन्ताग्रस्त करता है। वह जिसे सत्य मानता है, उसे प्राप्त करके उसे संतुष्टि नहीं मिलती। असफलता और एकाकीपन उसे निराशा से भर देते हैं। वह अनुभव करता है कि उसकी रचना के पीछे कोई प्रयोजन नहीं है। मनुष्य को इस सृष्टि में उसकी इच्छा के बिना आना पड़ा है। वह अपने आपको कर्म करने में स्वतंत्र मानता है, उसकी इच्छाओं तथा आकांक्षाओं की कोई सीमा नहीं है; किन्तु वह स्पष्ट देखता है कि परिस्थितियों पर उसका कोई वश नहीं है। यह चिन्ता, पीड़ा और निराशा मनुष्य की नियति है। मनुष्य को जन्म मिला है तो उसकी मृत्यु भी अवश्य आवी है। उसे जो कुछ करना है जन्म और मृत्यु के ध्रुवों के बीच

कर लेना है। मनुष्य को असीम उत्तरदायित्वों के साथ असहाय छोड़ दिया गया है।

23.5 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अस्तित्ववाद मनुष्य की गरिमा का दर्शन है। इस दर्शन के अनुसार मनुष्य अपना और सृष्टि का प्रारूप निश्चित करता है, विकास करता है। किन्तु अपनी असफलताओं और सीमाओं के कारण वह असंतुष्ट रहता है। यह पीड़ा उसके विकास में सहायक होती है। विडम्बना यह है कि वैश्वीकरण के इस युग में भी विभिन्न राष्ट्रों की आकांक्षाएं परस्पर विरोधी हैं। मनुष्य युद्धों से मुक्ति प्राप्त नहीं कर पा रहा है। आणविक तथा अन्य विनाशक शस्त्रास्त्र मानव-अस्तित्व के लिए खतरा बने हुए हैं। इन्हीं विरोधों के बीच जीना आधुनिक मनुष्य की नियति है।

23.6 कठिन शब्द :

- | | |
|-------------|-------------|
| 1. अस्तित्व | 2. अतिक्रमण |
| 3. संकल्पना | 4. प्रारूप |
| 5. त्रासदी | 6. आणविक |

23.7 अभ्यासार्थ प्रश्न :

प्र1. अस्तित्ववाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके प्रमुख सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए ।

प्र2. "अस्तित्व सार से पूर्ववर्ती है" सूत्र को स्पष्ट करते हुए संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ।

23.8 संदर्भ ग्रंथ/पुस्तक :

1. डॉ जगदीश चन्द्र जैन – पाश्चात्य समीक्षा दर्शन ।
2. डॉ नगेन्द्र (संपा.) – पाश्चात्य काव्यशास्त्र: सिद्धांत और वाद ।
3. डॉ निर्मला जैन तथा डॉ, कुसुम बाँटिया – पाश्चात्य साहित्य चिंतन ।